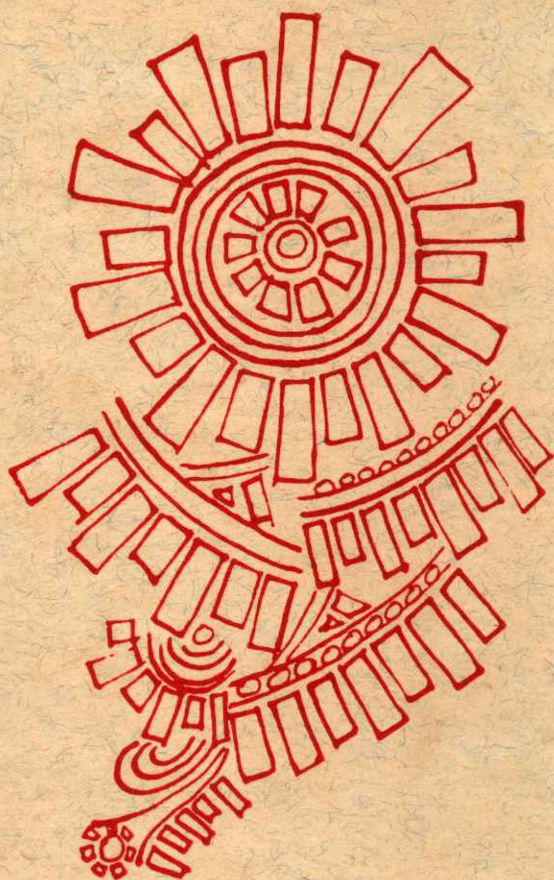
प्रत्यभिज्ञाहृदयम्



विशालप्रसाद त्रिपाठी

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्



विशालप्रसाद त्रिपाठी

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

क्षेमराजकृत 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' का विस्तृत
भूमिका तथा टिप्पणियों सहित अनुवाद

विशालप्रसाद त्रिपाठी

एम० ए०, दर्शनाचार्य

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

मूल्य : दस रुपये

आवरण : नारायण

० ०

प्रथम संस्करण, १९६९

प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस,

२/३५, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६

मुद्रक : ग्रामभावना प्रिंटिंग प्रेस, आश्रम, पट्टीकल्याणा (करनाल)

त्रिकदर्शनमूर्ति
गुरुप्रवर
डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय
को

FOREWORD

I have great pleasure in writing these few lines by way of introducing Pratyabhijñāhṛdayam by Mr. V. P. Tripathi, the work being a translation of the original in Sanskrit. Mr. Tripathi has done well to bring out this work since it will introduce the Pratyabhijñā school of Kashmir śaivsm to a wider reading public. The original is a happy little treatise in Sūtra and Vṛtti and gives us in brief the philosophy of the school, without going into its subtelities and complications. Mr. Tripathi's style is also lucid and I have no doubt that it will attract a larger number of students towards this school which, I believe, is sufficient reward. I wish Mr. Tripathi produces similar popular works to a larger circle of readers who seem to be more or less ignorant of the tenets though familiar with the name of the school.

Professor & Head of Sanskrit Deptt., T.G. Mainkar
Delhi University, Delhi.
30th September, 1969

प्रस्तावना

श्री विशालप्रसाद त्रिपाठी द्वारा प्रस्तुत प्रत्यभिज्ञाहृदयम् से पाठक-वर्ग को परिचित कराने के लिये इन पंक्तियों को लिखने में मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है। यह ग्रन्थ मूल संस्कृत का हिन्दी अनुवाद है। श्री त्रिपाठी ने यह ग्रन्थ लिखकर बड़ा अच्छा कार्य किया है, क्योंकि इससे विस्तृत पाठक-समाज काश्मीर-शैव-दर्शन की प्रत्यभिज्ञा शाखा से परिचित हो जायगा। मूलग्रन्थ सूत्र एवं वृत्ति शैली में लिखा एक सुन्दर तथा लघु कृति है, जो प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की सूक्ष्मता और गहनता में न जाकर संक्षेप में हमें इसके तत्त्वों से परिचित कराती है। श्री त्रिपाठी की शैली भी सुबोध है तथा यह कृति, निस्सन्देह, इस दर्शन की ओर अधिकाधिक अध्येताओं को आकृष्ट करेगी; जो, मैं समझता हूँ, बहुत बड़ा पुरस्कार है। मेरी कामना है कि श्री त्रिपाठी और भी विस्तृत पाठक समाज के लिये इस प्रकार के अन्य लोकप्रिय ग्रन्थों की रचना करें जो इस दर्शन के नाम से तो परिचित हैं, किन्तु संभवतः, इसके सिद्धान्तों से अनभिज्ञ हैं।

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, **त्र्यम्बक गोविन्द माईणकर**
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
३० सितम्बर, १९६९

आमुख

भारतीय दर्शन की विशेषता विश्वविदित है। इसकी जड़ें आध्यात्मिकता एवं समन्वयवादिता में हैं। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का भारतीय दर्शन में एक विशिष्ट स्थान है। इस दर्शन के मूल स्रोत तंत्र हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी व्याख्याओं द्वारा इसे हमारे सामने रखा। किन्तु वे भी बड़ी गूढ हैं। आचार्य क्षेमराज ने 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' लिखकर उस समस्या का समाधान कर दिया है। केवल २० सूत्रों तथा उन पर संक्षिप्त वृत्ति लिखकर उन्होंने इस दर्शन के मूल तत्त्वों का समझना हमारे लिये सरल कर दिया। इसकी विशेषता से प्रभावित होकर सन् १९१८ में श्री वी. आर. सुब्रह्मण्य अय्यर ने तमिल रूपान्तर तथा सन् १९२० में श्री लक्ष्मी नरसिंहम् ने 'दक्षिण शैव सिद्धांतों के आधार पर इसकी तेलगू व्याख्या की। उत्तर भारत में इससे हमारा प्रथम परिचय श्री जगदीशचन्द्र चट्टोपाध्याय द्वारा सम्पादित संस्करण से होता है। इसके पश्चात् अडयार लाइब्रेरी, मद्रास ने एक संस्करण निकाला जिसका पहले इमिल वेयर महोदय ने जर्मन में, तदनंतर उसी के आधार पर श्री कर्ट. एफ. लेडेकर ने टिप्पणियों सहित अंग्रेजी में अनुवाद किया। इधर श्री जयदेव सिंह ने इसे विस्तृत टिप्पणियों तथा अंग्रेजी अनुवाद सहित पुनः प्रकाशित कराया। इन सभी संस्करणों के होते हुए भी इसके हिन्दी अनुवाद की आवश्यकता का अनुभव कदम-कदम पर होता रहता था। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि भारतीय जनमानस की स्वातन्त्र्योत्तर संचेतना को देखते हुए भारतीय दर्शन की महत्त्वपूर्ण मौलिक कृतियों का हिन्दी अनुवाद हमारा धर्म-सा बन गया है; दूसरे हिन्दी साहित्य के जिज्ञासु पाठक के लिये प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। विशेषतः काव्यशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र तथा 'कामायनी' जैसी कृतियों का अध्ययन तो तब तक अधूरा है जब तक प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का भली-भाँति ज्ञान न हो। इन्हीं बातों से अभिप्रेरित होकर मैंने यह प्रयास किया है। इससे उक्त उद्देश्य की पूर्ति हो सकी तो मैं अपने को कृतकृत्य समझूँगा।

प्रस्तुत पुस्तक तीन भागों में विभक्त है—भूमिका, अनुवाद तथा टिप्पणियाँ और परिशिष्ट। भूमिका में ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार का परिचय, तथा प्रत्यभिज्ञा-

दर्शन के मूल तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है। अनुवाद के साथ प्रमुख दार्शनिक पदों की विशद टिप्पणियाँ देकर इस दर्शन के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन किया गया है। अन्त में परिशिष्ट के रूप में प्रमाणवाक्यों, पारिभाषिक पदों तथा सन्दर्भ-ग्रन्थों की सामग्री प्रबुद्ध पाठक के लिये विशेष उपयोग की है।

इस दर्शन में मेरी जो कुछ भी गति हो सकी है उसका श्रेय लखनऊ विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष काश्मीर-शैव दर्शन तथा सौन्दर्य-शास्त्र के मर्मज्ञ मनीषी गुरुप्रवर डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय को है; अतः यह कृति उन्हीं को समर्पित है। भारतीय वाङ्मय विशेषतः वेद, दर्शन एवं साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् तथा मौलिक चिन्तक दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागके अध्यक्ष डॉ० त्र्यम्बक गोविन्द माईणकर ने इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखकर बड़ा उपकार किया है; अतः, मैं हृदय से उनका कृतज्ञ हूँ। दिल्ली विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग में रीडर डॉ० व्रजमोहन चतुर्वेदी ने संस्कृत की महत्त्वपूर्ण मौलिक कृतियों के हिन्दी अनुवाद की प्रायोजना में इस पुस्तक को रखकर इसे तैयार करने में मुझे जो प्रेरणा एवं विद्वत्तापूर्ण सुझाव दिये हैं; इसके लिये उनके प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना परम धर्म मानता हूँ। मेरे पुराने मित्र बाद में गुरु डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय से भी इस पुस्तक के अनुवाद में पर्याप्त सहायता मिली थी; अतः उनको भी धन्यवाद देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। अपने अनन्य मित्र डॉ० नवजीवन रस्तोगी, प्राध्यापक, संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय के अनुसंधानों का मैंने इस पुस्तक में यथेष्ट उपयोग किया है। उनके प्रति भी मैं स्नेहाभार प्रकट करता हूँ। नेशनल पब्लिशिंग हाउस के स्वामी श्री कन्हैयालाल मलिक ने हमारी प्रायोजना को स्वीकार करके इस पुस्तक को प्रकाशित किया; अतः मैं उनको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। अंत में सूनू और आशु को।

विशालप्रसाद त्रिपाठी

विजयदशमी, सं० २०२६
एफ-१४/२, मॉडल टाउन,
दिल्ली-९

शब्द-संकेत

अ० गु० द्वि० सं०	अभिनव गुप्त : एन हिस्टारिकल एण्ड फिलसाफिकल स्टडी, द्वितीय संस्करण
अ० भा०	अभिनव भारती
अ० स०	अर्थ संग्रह
ई० प्र० वि०	ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
कठ०	कठोपनिषद्
क० शि०	कल्याण, शिवाङ्क
का० शैं०	काश्मीर शैविज़्म
क्र० स्तो०	क्रमस्तोत्र
तन्त्रा०	तन्त्रालोक
तं० वा०	तन्त्रवार्तिक
तं० वा० टी०	तन्त्रवार्तिकटीका
तं० सा०	तन्त्रसार
दशा० च०	दशावतारचरित
ध्व०	ध्वन्यालोक
न्या० सू०	न्यायसूत्र
प० च०	परमार्थचर्चा
प० प्र०	पराप्रवेशिका
प० सा०	परमार्थसार
परा० वि०	परात्रिंशिकाविवरण
प्र० हृ० अ० ला०	प्रत्यभिज्ञाहृदय, अडयार लाइब्रेरी
बो० पं०	बोधपंचदशिका
भा०	भास्करी
महाभा० मंज०	महाभारतमंजरी
म० मं०	महार्थमंजरी
मा० वि० वा०	मालिनीविजयवार्तिक
मुण्डक०	मुण्डकोपनिषद्
य० म० दी०	यतीन्द्रमतदीपिका
यो० सू०	योगसूत्र
र० पं०	रहस्यपंचदशिका
वि० भैं०	विज्ञानभैरव
शा० भा०	शांकर भाष्य

शि० दृ०	शिव-दृष्टि
शि० सू० वा०	शिव-सूत्र-वार्तिक
शि० सू० वि०	शिव-सूत्र-विमर्शिनी
श्लो० वा०	श्लोकवार्तिक
षट्० सं०	षट्त्रिंशत् तत्त्वसन्दोह
स० द० सं०	सर्वदर्शनसंग्रह
सा० का०	सांख्यकारिका
सि० ले० स०	सिद्धान्तलेशसंग्रह
स्त० चिं०	स्तवचिन्तामणि
स्प० का०	स्पन्दकारिका
स्प० नि०	स्पन्दनिर्णय
स्व० स०	स्वच्छन्दतन्त्र
A. G.	Abhinavagupta: An Historical and Philosophical Study.
H. P. E. W.	History of Philosophy East & West.
I. P. R.	Indian Philosophy, Radha Krishanan.
K. S.	Kashmir Shaivism.
P. H. A. L, (Intro)	Pratyabhijñāhṛdayam, Adyar Library, Introduction.
P. H., K. S.	Pratyabhijñāhṛdayam Kashmir Series.

विषयानुक्रम

	सूत्र	पृष्ठ
भूमिका		३३-६१
आचार्य क्षेमराज		३
प्रत्यभिज्ञहृदय		२०
प्रत्यभिज्ञा दर्शन के मूल तत्त्व		२५
प्रत्यभिज्ञाहृदयम्		६२-१४४
मंगलाचरण		६२
प्रयोजन		६६
विश्वसिद्धि का प्रधान कारण चिति, उसके सुखोपायत्व तथा महाफलत्व का निरूपण।	१	६७
चिति द्वारा अपनी इच्छा से विश्व के उन्मीलन तथा उसके साथ विश्व के ऐकात्म्य का निरूपण	२	७६
अनुरूप ग्राह्य-ग्राहक के भेद से विश्व के नानात्व का प्रतिपादन	३	७८
संकुचितचित्त भेदावभास से युक्त पशु की शिव की भाँति विश्वरूपता का विवेचन	४	८२
नीलसुखादिरूपार्थग्रहणोन्मुखता द्वारा संकुचितग्राहकरूपत्व चित्त के वस्तुतः संवित्स्वरूपत्व का प्रतिपादन।	५	८५
माया प्रमाता की चित्तमयता का निरूपण।	६	८८
विविधरूपस्वभाव होते हुए भी एक चिदात्मा के एकात्मत्व का निरूपण।	७	८९
चार्वाकादि दर्शनों की अर्वाचीन पद पर प्रतिष्ठा की स्थिति तथा नीलसुखादि के ज्ञान की स्थिति की स्वात्मरूपाभिव्यक्ति के उपाय का विवेचन	८	९९
एकात्मा के इच्छादि शक्तिसंकोचोत्तर मलावृतसंसारित्व का प्रदर्शन	९	१०५
शिव के विश्वसम्बन्धी कृत्यपंचक के विधायकत्व का निरूपण	१०	१०६
संसारी अवस्था में रहते हुए भी एकात्मा के पंचविधकृत्यकारित्व के रहस्य के अभिज्ञान का प्रदर्शन	११	१०८
पशुदशा के पोषक हेतुओं का निरूपण	१२	११०

चिति के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन ।	१३	१२१
मायाप्रमातृत्व की स्थिति में भी चित्शक्ति के आंशिक स्वकार्यकारित्व का निरूपण	१४	१२२
चिति के साथ विश्व के अभेदावभासन का प्रतिपादन	१५	१२३
जीवन्मुक्ति के लक्षण का प्रतिपादन	१६	१२४
जीवन्मुक्ति के फल का निरूपण	१७	१२६
विकल्पक्षयादि मध्यविकास के उपायों का निरूपण	१८	१२६
नित्योदित समाधि की प्राप्ति के उपाय का विवेचन	१६	१३५
नित्योदित समाधि के पार्यन्तिकफल का प्रतिपादन	२०	१३७
परिशिष्ट		१४५-१६०
प्रत्यभिज्ञाहृदयसूत्रानुक्रमणी		१४७
प्रत्यभिज्ञाहृदय में उद्धृत प्रमाणवाक्यानुक्रमणी		१४८
पारिभाषिक पदानुक्रमणी		१५०
शिवसूत्राणि		१५६
संग्रन्थावली		१५६

भूमिका

- आचार्य क्षेमराज
- प्रत्यभिज्ञाहृदय
- प्रत्यभिज्ञादर्शन के मूल तत्त्व

आचार्य क्षेमराज

वंश-परिचय

काश्मीर की सुरम्य घाटी सुरभारती के शिल्पकौशल की प्रधान रंगस्थली रही है। वीणा पर वाणी के कर फिरे, प्रकृति ने स्वर सँजोया, विधि ने संगत की और सृष्टि हो गयी उस अमर संगीत की जिससे न केवल वह घाटी अपितु निखिल भारतभूमि गूँज उठी। इसी सानुकूल वातावरण के अविच्छिन्न प्रवाह में प्रादुर्भूत हुई वह दिव्य मेधा जिसकी महिमा से परवर्ती समीक्षा-जगत तो अनुप्राणित हुआ ही साथ ही साथ भारतीय दर्शन को भी एक नवचेतना मिली। वह मेधा थी महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त की। आचार्य अभिनवगुप्त की धार्मिक एवं पारिवारिक परिस्थितियाँ चाहे जैसी रही हों किन्तु प्राकृतिक तथा बौद्धिक परिस्थितियाँ उनके सर्वथा अनुकूल थीं; इसमें कदाचित् कोई भी असहमति न प्रकट करना चाहेगा। अतः उस अभिनव की प्रखर प्रतिभा ने यदि एक ओर संस्कृत-साहित्यार्णव को अपने अनुपम ग्रन्थ-रत्न प्रदान किये, तो दूसरी ओर एक सुन्दर शिष्य-परम्परा, जो उस प्रवाह को आगे बढ़ा सकी। उन शिष्यों में प्रमुख थे—राजानक क्षेमराज।

देववाणी का कृतिकार दूसरे के विषय में बहुत कुछ कहकर भी अपने विषय में या तो कुछ भी नहीं कहता अथवा कहता भी है तो इतना कम कि जो उसकी काल तथा देशविषयक समस्या को और भी विवादास्पद बना देता है। क्षेमराज भी इस परम्परा का संवरण न कर सके। यद्यपि उनके पूज्य गुरु के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। आचार्य अभिनवगुप्त, सम्भवतः, इस कठिनाई का अनुभव कर चुके थे और यही कारण है कि उन्होंने यथास्थान अपने विषय में तो निर्देश किया ही, साथ ही साथ अपने शिष्यों के विषय में भी यत्र-तत्र कुछ संकेत देकर इस समस्या को कुछ सरल बना दिया। क्षेमराज के विषय में हम जो कुछ अभी तक जान सके हैं वह, अधिकांशतः,

अभिनवगुप्त के इन स्फुट निर्देशों से ही, जिसका निरूपण हम नीचे की पंक्तियों में करेंगे।

किसी भी कृतिकार के कृतित्व पर उसकी पारिवारिक परिस्थितियों का अनिवार्य प्रभाव पड़ता है, अतः इसके पूर्व कि हम उसके कृतित्व पर विचार करें हमारे लिए आवश्यक हो जाता है कि हम उसके पारिवारिक जीवन पर भी एक विहंगम दृष्टि डालें। दुर्भाग्यवशात् अभीतक हम क्षेमराज की किसी कृति में कुछ भी ऐसे शब्द प्राप्त नहीं कर सके जिनसे उनके पारिवारिक जीवन अथवा माता-पिता के विषय में कुछ निर्णय किया जा सके। यही कारण है कि इस क्षेत्र में कार्यरत मनीषी, प्रायशः इस ओर से निराश हो चुके थे।[1] किन्तु डॉ॰ कान्ति चन्द्र पाण्डेय ने एक संभावना की है जिससे इस ओर कुछ प्रकाश पड़ जाता है।[2] अभिनवगुप्त ने अपने "तन्त्रालोक" के सैंतीसवें आह्निक में अपने शिष्यों की सूची में "क्षेम" नाम भी रक्खा है। एक दूसरी सूची में उन्होंने अपने चचेरे भाइयों (पितृव्य-पुत्र) की भी गणना की है, जिसमें "क्षेम" सर्वप्रथम नाम है।[3] साथ ही साथ अभिनव ने इन लोगों को अपना शिष्य भी बतलाया है। प्रत्येक ग्रन्थ की पुष्पिका में 'अभिनव-गुप्तपादपद्मोपजीविनः' का प्रयोग न केवल क्षेमराज को अभिनवगुप्त का शिष्य ही सिद्ध करता है; प्रत्युत अभिनव-गुप्त के साथ उनके निकट सम्पर्क का भी द्योतन करता है। इसके अतिरिक्त उनके पट्टशिष्यत्व आदि बातों के आधार पर यह संभावना, कि "तन्त्रालोक" के "क्षेम" "प्रत्यभिज्ञाहृदय" तथा अन्य कृतियों के रचयिता क्षेमराज ही हैं, किसी भी अंश में तथ्यहीन नहीं प्रतीत होती। यही नहीं, स्वयं क्षेमराज भी अपने "प्रत्यभिज्ञाहृदय" के द्वितीय श्लोक में अपना परिचय "क्षेम" के रूपमें ही देते हैं—"क्षेमेणोद्ध्रियते सारः संसारविषशान्तये।" इसी ग्रन्थ की पुष्पिका में वह अपने को राजानक क्षेमराज भी कहते हैं:

"कृतिस्तत्रभवन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनगुप्तपादपद्मोपजीविनः श्रीमतो राजानकक्षेमराजस्य।"

अतः इस सम्बन्ध में तो दो मत हो ही नहीं सकते कि "तन्त्रालोक" का "क्षेम" राजानक क्षेमराज का ही संक्षिप्त रूप है। अपने "ग्रन्थ" के

---

१. A Veil of mystry hangs over the parentage of Ksemaraja.
स्व० तं० (Intro.)

२. A. G. 2nd Ed. PP. 266-67

३. **अन्येपितृव्यतनयाः शिवशक्तिशुभ्राः**
क्षेमोत्पलाभिनव-चक्रकपद्मगुप्ताः तंत्रा० पृ० ४१७

तृतीय अध्याय में डा० पाण्डेय एक वामनगुप्त से हमारा परिचय करवाते हैं; जिन्हें अभिनवगुप्त अपना चाचा मानते हैं—**"यथास्मतिपतृव्यस्य वामनगुप्तस्य"**[1] अस्तु, चूंकि यह अकेले ही व्यक्ति हैं जिन्हें हम अभिनवगुप्त के चाचा के रूप में जानते हैं, तो क्या यह कहना अनुचित होगा कि यह क्षेमराज के पिता थे ?

देश एवं काल

क्षेमराज के देश एवं काल के निर्णय के विषय में हमको उतना बौद्धिक-व्यायाम नहीं करना पड़ता जितना अन्य लोगों के विषय में। इसका कारण है स्वयं क्षेमराज का यत्र-तत्र (चाहे सांकेतिक ही) निर्देश। नारायणभट्ट की "स्तवचिन्तामणि" पर विवृति करते समय उसके उपसंहार में इन्होंने जिन पद्यों की रचना की है उनसे यह निर्विवादरूपेण निर्णीत हो जाता है कि यह श्रीनगर से ३० मी० पूर्व स्थित विजयेश्वर (आधुनिक बीजबिहार), में रहते थे। वहीं पर गुणादित्य के पुत्र सूरादित्य की प्रेरणा अथवा प्रार्थना पर नारायणभट्ट के "स्तवचिन्तामणि" पर विवृति की[2]। यद्यपि "राजतरंगिणी" में सूरादित्य का नाम नहीं आता, किन्तु इससे केवल इतना कहा जा सकता है कि सूरादित्य ने कल्हण की दृष्टि में कोई ऐसा महान् कार्य न किया होगा जिससे वह जन-सामान्य से उच्चश्रेणी में रक्खे जा सकते।

सरस्वती के इस वरदतनय के पारिवारिक-स्रोत का प्रश्न डा० पाण्डेय के पूर्व सभी प्राच्य एवं प्रतीच्य मनीषियों के लिए जितनी गहन पहेली बना रहा, उसके देश एवं काल का निर्णय उतना ही सरल। इसका कारण है—उनका इस सम्बन्ध में यत्र-तत्र संकेत, जिसे आज का विद्वान् अन्तर्साक्ष्य की संज्ञा देता है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, क्षेमराज ने अपनी सभी कृतियों की पुष्पिका में अपने को **"अभिनवगुप्तपादपद्मोपजीविनः"** कहा है। बस यही एक

---

१. अ० भा० पृ० २९७

२. **गुणादित्याज्जातो गुणगणगरिष्ठः शिवगुरोः,**
कृतामोदो बाल्यात्प्रभृति गतसंगो जगति यः।
स सूरादित्यो मां बहु बहुलभक्त्यार्थयत यत्
स्तुतौ तेनाकार्षं विवृतिमिह नारायणकृतौ॥
श्रीरामेण कृतात्र सद्विवृतिरित्येषा किमर्थेति सा,
सन्तश्चेतसि कृध्वमस्ति विवृतौ कोपि प्रकर्षोऽत्र यत्।
तेनार्थिप्रणयाद्दिनैस्त्रिचतुरैर्यो क्षेमेराजो व्यधात्
क्षेत्रे श्री विजयेश्वरस्य विमले सैषा शिवाराधनी॥

स्त० चिं०, पृ० १३०

ऐसा दुर्भेद्य तथ्य है जिसने सभी विद्वानों में इनके कालविषयक विवाद को पनपने ही नहीं दिया है। जहाँ तक अभिनवगुप्त के काल का प्रश्न है, यह सभी ओर से सिद्ध हो चुका है कि वह दशम शतक के उत्तरार्द्ध से एकादश शतक के पूर्वार्द्ध तक साहित्य-सर्जन करते रहे। पता नहीं लेडेकर महोदय उनका समय नवम शतक का द्वितीय चरण कैसे मानते हैं और उसका आधार वह प्रो० जगदीश चन्द्र चटर्जी को मानते हैं। चटर्जी महोदय ने स्वयं क्षेमराज का समय एकादश शतक माना है[१]। पं० मधुसूदन कौल भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, क्योंकि अभिनव-गुप्त के समय के विषय में कोई विसंवाद नहीं[२]। डा० पाण्डेय अभिनव की अन्तिम प्राप्यकृति की समाप्ति का समय १०१४-१५ ई० बताते हैं।[३] अतः, हम निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि क्षेमराज का कृतित्व-काल एकादश शतक के अन्त तक चलता रहा होगा। इस विषय में लेडेकर महोदय भी हमारे साथ हैं।[४]

क्षेमराज के संबंध में एक प्रश्न बार-बार उठाया जाता है। क्या क्षेमराज तथा क्षेमेन्द्र, आयुर्वेद के विद्यार्थी क्षेमराज अथवा क्षेमशर्मन् एक ही व्यक्ति के नाम हैं अथवा ये हमारे क्षेमराज से भिन्न हैं? यहाँ भी इस शंका पर विचार करना अप्रासंगिक न होगा। हमको पहले यह देखना है कि आखिर यह शंका उठायी ही क्यों जाती है? वस्तुतः "स्पन्दसन्दोह" तथा "स्पन्दनिर्णय" की कुछ हस्तलिखित पाण्डुलिपियों की पुष्पिका में क्षेमराज के स्थान पर क्षेमेन्द्र नाम आया है। इसका कारण लिपिक के प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ समझ में नहीं आता। केवल इसी आधार पर कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने क्षेमराज को क्षेमेन्द्र सिद्ध करने का विनोद किया है। इन कृतियों का अब प्रकाशन हो चुका है और इनकी पुष्पिका में क्षेमेन्द्र का नहीं अपितु क्षेमराज का नाम अंकित है। उदाहरण के लिए "स्पन्दनिर्णय" की पुष्पिका देखिए—

"कृतिः श्री प्रत्यभिज्ञाकारप्रशिष्यमहामाहेश्वराचार्यश्रीमद्-अभिनवगुप्त-नाथदत्तोपदेशस्य श्री क्षेमराजस्येति शिवम्।"

---

१. Ksemaraja being a pupil of Abhinava Gupta must have lived and written in the eleventh christian century. (K. S. P. 36)

२. **"स्वच्छन्दतन्त्र" की भूमिका।**

३. Abhinava's last available dated work was completed in 1014-15 A. D. A. G. 2nd Ed. pp. 253

४. प्र० ह०, अ०, ला० भूमिका, पृ० ६.

इसके अतिरिक्त क्षेमराज "प्रत्यभिज्ञाहृदयम्" तथा "शिवसूत्रविमर्शिनी" (जिसके विषय में क्षेमराज की कृति होने में किसी को सन्देह नहीं) में स्वयं इस बात को स्पष्ट कर देते हैं।[1]

यद्यपि इस दिशा में कार्य करने वाले विद्वानों के वैदुष्यपूर्ण एवं अभूतपूर्व अनुसन्धानों ने इस समस्या को सदैव के लिए समाप्त कर दिया है,[2] फिर भी दो चार बातें कही जा सकती हैं :

अभिनवगुप्त तथा क्षेमराज की कृतियों का सिंहावलोकन करके हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि क्षेमराज का व्यक्तित्व अपने समसामयिक क्षेमेन्द्र के व्यक्तित्व से सर्वथा भिन्न था। "तन्त्रालोक" अभिनवगुप्त की रचनाकाल के प्रथम चरण की रचना माना जाता है। अत: इसकी रचना अवश्य ही ९९० ई० के लगभग हुई होगी। वह क्षेमराज, जिनका नाम उनके पितृव्यपुत्रों में सर्वप्रथम आया है, उस समय पूर्णरूप से शिक्षित थे तथा शैव-तन्त्रों के समझने का इतना सामर्थ्य रखते थे कि अन्य लोगों के साथ अभिनवगुप्त से "तन्त्रालोक" लिखने की प्रार्थना कर सकें[3]। यह इस बात को स्पष्ट कर देता है कि क्षेमराज ने अपना साहित्यिक जीवन या तो अपने गुरु के जीवन के अन्तिम दिनों में प्रारम्भ किया, अथवा उनके गुफा में प्रवेश करने के अनन्तर, अर्थात् १०१५ ई० के उपरान्त किसी समय। अत: इनके साहित्यिक जीवन का काल १०१५-१०४० ई० के मध्य में पड़ता है। किन्तु हम दोनों का तादात्म्य स्थापित करना चाहें तो हमको एक के साहित्यिक कार्यकाल के लिए लगभग अर्द्धशतक का समय देना पड़ेगा; क्योंकि क्षेमेन्द्र अपनी अन्तिम कृति "दशावतारचरित" का समाप्तिकाल १०६६

---

१. प्र० हृ०, पृ० ५२, शि० सू० वि०, पृ० १४.

२. But our careful study shows that they are the works of Ksemaraja and that if in the colophons of some MSS. the name of Ksemendra is found, it must have been simply due to the mistake of the scribes.—A.G. 2nd Ed. P.P. 256

३. (क) अन्येपितृव्य तनयाः शिवशक्तिशुभ्राः
क्षेमोत्पलाभिनव-चक्रकपद्मगुप्ताः।

(ख) अन्योऽपि कश्चन जनः शिवशक्तिपात-
सम्प्रेरणापरवशः स्वकशक्तिसार्थः।
अभ्यर्थनाविमुखभावमशिक्षितेन
तेनाप्यनुग्रहपदं कृत एष वर्गः॥

(ग) आचार्यमभ्यर्थते स्म गाढम् सम्पूर्णतन्त्राधिगमाय सम्यक्।
—तन्त्रा० पृ० ४१७-१८

ई० बताते हैं[१]। इसके अतिरिक्त क्षेमेन्द्र का एक अन्य नाम भी है : व्यासदास, जिसका प्रयोग हमें क्षेमराज के नाम के साथ कभी नहीं मिलता।

क्षेमेन्द्र का अभिनवगुप्त के साथ सम्पर्क भी हमको उतना निकट नहीं प्रतीत होता जितना कि क्षेमराज का क्योंकि, अभिनवगुप्त का वह नामोल्लेख केवल एक बार अपनी "महाभारतमंजरी" में करते हैं :

"आचार्यशेखरमणेर्विद्याविवृतिकारिणः
श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः ॥"

जिससे यह स्पष्ट पता चल जाता है कि क्षेमेन्द्र का अभिनव से सम्बन्ध शिष्य के रूप में न रहकर श्रोता के रूप में था। श्रोता तथा शिष्य में आज भी महान् अन्तर माना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनव के वैदुष्य और साधना का समग्र रिक्थ आचार्य क्षेमराज को वंशज तथा शिष्य दोनों के नाते प्राप्त हुआ था; जब कि क्षेमेन्द्र के लिए अभिनव अधिक से अधिक आचार्य-प्रवर थे।

इसके अतिरिक्त दोनों के निवास-स्थान भी भिन्न-भिन्न थे। क्षेमराज, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है, विजयेश्वर (बीजबिहार) अपना निवासस्थान बतलाते हैं, इसके विपरीत क्षेमेन्द्र ने अपना निवास-स्थान त्रिपुरशैल बतलाया है।[२]

यदि क्षेमेन्द्र को हम अभिनव की शिष्य-कोटि में रख भी दें तो हम देखते हैं कि उनमें कोई ऐसा लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होता जो उनके ऊपर अभिनवगुप्त के प्रभाव का परिचायक हो। उन्होंने जो कुछ भी लिखा उसका दर्शन से कोई भी सम्बन्ध नहीं। इसके विपरीत क्षेमराज ने अपने पूज्य गुरु की भाँति साहित्य के तीनों अंगों—शैवदर्शन, अलंकार-शास्त्र तथा तन्त्र के क्षेत्र में कुछ-न-कुछ अवश्य लिखा है। इतना ही नहीं, क्षेमेन्द्र दार्शनिक की ओर से कुछ क्षुब्ध से हैं। तभी न वह कहते हैं :

न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि
शिक्षाविशेषैरपि सुप्रयुक्तैः।
न केवलं शाब्दिकं तार्किकं वा
कुर्यात् गुरुं सूक्तिविकासविद्याम् ॥

---

१. एकाधिकेऽब्दे विहितचत्वारिंशे सकार्तिके
राज्ये कलशभूभर्तुः, कश्मीरेष्वच्युतस्तवः। दश० च० (उपसंहार)

२. प्रख्यातातिशयस्य तस्य तनयः क्षेमेन्द्रनामाभवत्।
तेन श्रीत्रिपुरेशशैलशिखरे विश्रान्तिसन्तोषिणा ॥ महाभा० मंज०

अभिनवगुप्त से किंचिद्मात्र संसर्ग रखने वाला भी दार्शनिक के प्रति ऐसा उपेक्षा का भाव नहीं रख सकता था, उनके शिष्य की तो बात ही क्या !

डॉ० दे के 'संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास' के अनुसार डॉ० ब्यूल्हर ने इस समस्या के समाधान का जो सुझाव रक्खा है, वह है क्षेमराज के पिता के नाम का अनुसन्धान। स्वाभाविक भी है यदि पिता का पता चल जाए तो पुत्र के अस्तित्व पर कौन सन्देह करेगा ? यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि "क्षेम" क्षेमराज का ही संक्षेपीकरण है; जिसका उल्लेख आचार्य अभिनवगुप्त ने "तन्त्रालोक" में अपने पितृव्यपुत्रों के गणनाप्रसंग में किया है। हम यह भी कह चुके हैं कि अभिनव ने अपनी "अभिनव भारती" (पृ० २९७) में अपने एक चाचा के नाम का उल्लेख किया है। यद्यपि हम यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि "अभिनव भारती" में उल्लिखित अभिनव के चाचा ही क्षेमराज के पिता थे; क्योंकि हो सकता है कि अभिनवगुप्त के और भी चाचा रहे हों। किन्तु अभिनवगुप्त के पितामह के विषय में इस प्रकार का कोई प्रश्न नहीं उठता, उनका तो नाम भी क्षेमेन्द्र के पितामह से भिन्न था। अभिनवगुप्त के पितामह का नाम वराहगुप्त बताया जाता है। अतः, यदि हम क्षेमराज को अभिनवगुप्त का चचेरा भाई मानते हैं तो, स्वभावतः, वराहगुप्त क्षेमराज के भी पितामह थे। किन्तु क्षेमेन्द्र के पितामह का नाम, जैसा कि उनकी "महाभारत मंजरी" से स्पष्ट है, निम्नाशय था।[1]

उपर्युक्त युक्तियों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि क्षेमराज तथा क्षेमेन्द्र दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के नाम थे; तथा दोनों के क्षेत्र भी भिन्न थे।

प्रतिभा एवं कृतित्व

शैवागमों से प्राप्त बीज से प्रस्फुटित जिस शैवदर्शन के अंकुर को अभिनवगुप्त ने अपने प्रतिभा-जल से सींचकर विशालकाय पादप का रूप दे दिया उसके संरक्षण का श्रेय क्षेमराज को ही दिया जाना चाहिए। यद्यपि क्षेमराज की पारिवारिक परिस्थिति के विषय में हम कुछ अधिक नहीं कह सकते किन्तु

---

१. **काश्मीरेषु बभूव सिन्धुरधिकः सिन्धोश्च निम्नाशयः**
प्राप्तस्तस्य गुणप्रकाशयशसः पुत्रः प्रकाशेन्द्रताम्

× × × ×

प्रख्यातातिशयस्य तस्य तनयः क्षेमेन्द्रनामाभवत्। महाभा० मंज०

अभिनव की पुनीत शिष्य-परम्परा एवं उनके उपदेशों से आपूर्ण स्वस्थ वातावरण में पल्लवित होने वाली क्षेमराज की प्रतिभा यदि अपने विकास की चरम कोटि तक पहुंच सकी तो इसमें आश्चर्य कैसा[१] ? इससे बढ़कर इनकी प्रतिभा की प्रखरता का प्रमाण क्या हो सकता है कि वह उनके पूज्य गुरु की प्रतिभा की भाँति सर्वतोन्मुखी थी। तन्त्र-साहित्य का तो वह कोना-कोना झाँक आये थे। इसके अतिरिक्त त्रिकदर्शन एवं साहित्य-शास्त्र पर अभिनवगुप्त के उपदेश तथा अपने अनुशीलन के परिणामस्वरूप उनके द्वारा जिस साहित्य की सृष्टि हुई उससे आज हम लाभान्वित ही नहीं अनुप्राणित भी हो रहे हैं। किसी भी कवि के साफल्य का जो मापदण्ड निश्चित किया गया है, वह इसी बात का परिचायक है कि काव्य का रहस्य कवि की प्रतिभा का रहस्य है न कि उसकी व्युत्पन्नता अथवा अभ्यासशीलता का। आचार्य अभिनव के काव्यशास्त्र के गुरु भट्टतौत ने इसीलिए कवि को ऋषि कहा है; क्योंकि उसमें प्रतिभा रहा करती है; जिसका उन्मेष उसकी वर्णना में हुआ करता है, "प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता", और उसी प्रतिभा के द्वारा ही कवि अपूर्व वस्तु की सृष्टि कर सकता है।[२] अस्तु, किसी भी कृतिकार के लिए व्युत्पत्ति एवं अभ्यास के अतिरिक्त जिस गुण की अपेक्षा होती है वह है उसकी प्रतिभा। वह प्रतिभा होती है नैसर्गिक देन। अभ्यास तथा व्युत्पत्ति केवल कृतिकार के कृतित्व में सहायक का काम देते हैं और उनका वह साहाय्य भी तभी सार्थक है जब कि कृतिकार को प्रतिभा का वरदान मिला हो। क्षेमराज भी इस वरदान से विरहित नहीं। सौभाग्य से उनको ऐसी दिव्यात्मा का संरक्षण एवं प्रशिक्षण मिला जिससे कि वह दिव्यशक्ति पुष्पित होती रही। यही कारण है कि उनकी लेखनी ने जो कुछ प्रसूत किया उससे एक समृद्ध एवं प्रौढ़ साहित्य की पुष्टि होती है। "प्रत्यभिज्ञाहृदय" की निम्न पंक्तियों में हम दार्शनिक क्षेमराज के ही नहीं कवि क्षेमराज के भी दर्शन करते हैं।

"आसादितसमावेशो योगिवरो व्युत्थाने अपि समाधिरससंस्कारेण क्षीब इव सानन्दं घूर्णमानो भावराशिं शरदभ्रलवं इव चिद्गगन एव लीयमानं पश्यन् भूयो भूयः अन्तर्मुखतां एव समवलम्बमानो निमीलनसमाधिक्रमेण चिदैक्यमेव विमृशन् व्युत्थानाभिमतावसरे अपि समाध्येकरस एव भवति।"[३]

---

१. But he seems to have been the most successful of all.
—Leidecker

—प्र० हृ० अ० ला०, पृ० ६-१०

२. प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा। —ध्वन्यालोकलोचन १.६

३. प्र० हृ०; ८५-८६, अ० ला०; मद्रास।

दार्शनिक मीमांसा में भी इनकी उपमाएँ कहीं कहीं इतनी ठीक बैठती हैं कि विषय स्वतः स्पष्ट हो जाता है। वह चिति की तुलना वह्नि से तथा नीलपीतादि प्रमेयोंकी तुलना इन्धन से करते हैं :

"चितिवह्निरवरोहपदेच्छन्नोपि मात्रया मेयेन्धनं प्लुष्यति ।"[1]

दार्शनिक कृतियों में उपमा का इतना सफल प्रयोग इनके काव्यानुशीलन का परिचायक तो है ही साथ ही इनकी वर्णनाशक्ति का भी सबल प्रमाण है। इसके अतिरिक्त प्राचीन सूत्रों की इतनी विशद तथा वैदुष्यपूर्ण व्याख्या भी इन की प्रज्ञा की नवोन्मेषशालिता की ही द्योतक है।

"शिवसूत्रविमर्शिनी" का एक उदाहरण लीजिए—**आसनस्थः सुखं ह्रदे निमज्जति ॥ १६ ॥** पर व्याख्या करते हुए कहते हैं :

"आस्यते, नित्यमैकात्म्येन स्थीयते अस्मिन् इति आसनं; परं शाक्तं बलम्, यस्तत्र तिष्ठति, परिहृतपरापरध्यानधारणादिसर्वक्रियाप्रयासो नित्यमन्तर्मुखतया तदेव परामृशति यः, स सुखमनायासतया; ह्रदे, विश्वप्रवाहप्रसरहेतौ स्वेच्छोच्छलतादियोगिनि परामृतसमुद्रे निमज्जति देहादिसंकोचसंस्कार ब्रोडनेन तन्मयो भवति।" (शि० सू० वि० ९४-९५)

यहाँ हम न केवल व्याख्याकार क्षेमराज के दर्शन करते हैं, अपितु एक ऐसे आचार्य के जिसकी प्रखर मेधा में जितनी शक्ति है किसी विषय के ग्रहण करने की, उतनी ही उसको अभिव्यक्त करने की भी। इनकी मेधा की इसी प्रखरता से आकृष्ट होकर अभिनव ने, सम्भवतः, इनको अपना पट्ट शिष्य बना लिया था। जैसा कि वह स्वयं कहते हैं कि जिन लोगों ने तन्त्रशास्त्र की ग्रन्थियों को समझकर उनसे उस पर आलोक लिखने की अभ्यर्थना की उनमें से क्षेमराज भी एक थे।

इस प्रकार इनकी अन्य कृतियों को देखने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह उन गुणों से पूर्णतया अभिषिक्त थे जो एक कृतिकार के प्रातिभ कहलाने में सहायक होते हैं।

भारतीय दार्शनिक, अपनी कृति में कितना भी मौलिक हो, कभी भी मौलिक होने का दावा नहीं करता। उसका प्रयास सदैव इस बात की ओर रहता है कि जो कुछ वह कह रहा है अथवा कहना चाहता है उसका आधार शास्त्र है। आचार्य शंकर किसी बात की प्रामाणिकता उसी बात में स्वीकार करते हैं जो कि

---

१. वही, पृ० ६७

वेदपरक हो तथा वेदाभिहित सिद्धान्तों का समर्थन करती हो।[1] इसी प्रकार 'शिव-दृष्टि' के प्रणेता तथा प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के वास्तविक प्रवर्तक सोमानन्द भी दृढ़ता-पूर्वक कहते हैं कि उनकी शिवदृष्टि उनके मस्तिष्क की मौलिक उपज नहीं प्रत्युत शास्त्र पर आधृत है ।[2] अभिनवगुप्त भी अपने पूर्वजों द्वारा प्रवर्तित— इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए प्रतीत होते हैं । अतः, क्षेमराज भी इस पारम्परिक नियम का अतिक्रमण कैसे कर सकते थे ? जिस प्रकार अभिनव की "ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी" मन्दबुद्धियों के लिए सूत्रार्थ की विशद व्याख्या के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं; उनकी "ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी" जनता को "श्री शाम्भवाद्वयपद" में नियुक्त करने का प्रयास मात्र है तथा उनके "तन्त्रा-लोक" में ऐसी कोई बात नहीं जो "मालिनीविजय" तन्त्र में न हो; उसी प्रकार उनके प्रशिष्य क्षेमराज की "शिवसूत्रविमर्शिनी" की रचना गुर्वाम्नायविगानतः "विज्ञान भैरव" पर विवृति सज्जनों द्वारा शिवत्व के अधिगमन के लिए; "शैवागम" के सार "प्रत्यभिज्ञा" रूपी महोदधि के सार का उद्धरण संसार-रूपी विष की शांति के लिए तथा जिनके हृदय में शंकर के शक्तिपात का उदय हो गया है, किन्तु जो अनभ्यासवशात् तीक्ष्ण तर्कों में अक्षम हैं और इसी कारण ईश्वर का प्रत्यभिज्ञान नहीं कर सकते उन्हीं के लिए यह 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' केवल उपदेश मात्र है । इससे बढ़कर अपनी कृति के सम्बन्ध में विनयभाव विश्व-साहित्य में शायद ही कहीं मिले। यह परम्परा संस्कृत साहित्य के लिए नवीन नहीं । कालि-दास भी सूर्यवंश के वर्णन करने में अपनी मति को अल्पविषया तथा अपने वाग्विभव को तनु समझते हैं । किन्तु फिर भी अपनी उस "अल्पमति" तथा "तनुवाग्विभव" का प्रयोग वह इसलिए करते हैं कि जिससे सन्तों द्वारा उसकी परीक्षा हो जाय, क्योंकि सोने के खरे या खोटेपन का तब तक पता नहीं चलता जब तक उसकी अग्नि-परीक्षा नहीं होती । आज तो कोई एक तुकबन्दी करके अपने को विश्व का महान् कवि तथा किसी विषय पर दो पृष्ठ लिखकर विश्व-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ लेखक समझ बैठता है । देववाणी का कवि बहुत कुछ करके भी कुछ नहीं करता, यही उसकी विशेषता है और इसी के बल पर आज पाश्चात्य जगत् भी लोलुप-दृष्टि से इसी की ओर बढ़ा चला आ रहा है ।

---

१. तदर्थग्रहणदार्ढ्यानुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवन्न निवा-र्यते श्रुत्यैव सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात् । शां० भा० १.१.२

२. प्रतिपादितमेतावत् सर्वमेव शिवात्मकम् ।
न स्वबुद्धया शिवोदाता शिवो भोक्तेति शास्त्रतः ॥ —शिवदृष्टि, पृ० २१६

इतना सब कुछ कहने के अनन्तर हमें देखना है कि हमारा कृतिकार इस परम्परा का कहाँ तक अनुसरण करता है। जैसा कि अभी-अभी कहा जा चुका है कि अपने पूज्य गुरु की भाँति क्षेमराज भी न तो महान् दार्शनिक होने का दम भरते हैं और न शास्त्रकार होने का ; वह तो जो कुछ लिखते हैं उसमें अन्तर्निहित है एक पुनीत उद्देश्य। उस उद्देश्य की पूर्ति ही उनके सभी ग्रन्थों के प्रणयन का निमित्त कारण बनकर आता है। वह पुनीत उद्देश्य है अपने गुरुओं की भणिति का किसी न किसी रूप में लोक में प्रचार।[१] अतः, यदि हम यह कहना चाहें कि क्षेमराज ने किसी नवीनशास्त्र का प्रतिपादन अथवा किसी नव सरणि का प्रवंतन किया तो अधिक संगत न होगा। किन्तु उसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि क्षेमराज का काश्मीर-शिवाद्वय दर्शन के विकास में कुछ योग-दान ही नहीं। यदि और सब कुछ छोड़कर हम उनकी व्याख्याओं (टीकाओं) पर दृष्टिपात करते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राचीन गुरुओं ने जिस सिद्धांत का प्रतिपादन संक्षेप में किया था तथा उसमें जो गुत्थियाँ रह गयी थीं उनका यदि किसी ने विशदी-करण किया तथा उन गुत्थियों को सुलझाया तो वह थे हमारे क्षेमराज। विशेषतः, त्रिकदर्शन की स्पन्दशाखा, जिसकी ओर आचार्य अभिनव, न जाने क्यों, अधिक आकृष्ट नहीं हो सके थे; व्यवस्थित अभिव्यक्तीकरण का श्रेय आचार्य क्षेमराज को ही है। इसके लिए हम त्रिक-दर्शन के जिज्ञासु राजानक क्षेमराज के अत्यन्त आभारी हैं।[२] वस्तुतः क्षेमराज का प्रयास अपने आचार्य द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत को विशदरूप देने की ओर रहा है। "चिति" का सिद्धान्त यद्यपि उत्पल तथा अभिनवगुप्त के मस्तिष्क की उपज है किन्तु, जैसा कि हम आगे स्पष्ट करेंगे उसका व्यवस्थित एवं विशद निरूपण क्षेमराज ने ही किया। यदि वाचस्पति मिश्र को हम इसलिए जानते हैं कि उन्होंने प्राचीन भारतीय तत्त्व-चिन्तन की, प्रायशः, किसी भी शाखा को अछूती नहीं छोड़ी ठीक उसी प्रकार क्षेमराज ने भी काश्मीर त्रिकशास्त्र की प्रायशः सभी शाखाओं पर अपनी लेखनी चलायी है।

---

१. आसमंजसमालोच्य वृत्तीनामिह तत्त्वतः।
शिवसूत्रं व्याकरोमि गुर्वाम्नायविगानतः ॥

शिवसूत्र विमर्शिनी पृ० १

२. The students of the (Trka) philosophy owe a special debt of gratitude to Ksemaraja for a systematic presentation of the views of Abhinava on the spanda branch on which the latter, not liking to be classed with the common herd of commentators, did not write.'

A. G. 2nd Ed. PP. 255

भारतीय दर्शन का, और प्रधानतया काश्मीर-शिवाद्वय दर्शन का यह वैलक्षण्य रहा है कि यह न केवल जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओं पर प्रकाश डालता है अपितु तुरीय तथा तुरीयातीत अवस्थाओं पर भी। अभिप्राय यह कि यह केवल उन्हीं अनुभूतियों का विवेचन नहीं करता जिनमें मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ सामूहिक रूप से अथवा पृथक् रूप से सम्बद्ध रहते हैं, प्रत्युत उन अनुभूतियों का भी जिनमें ये पूर्णतया शान्त रहते हैं और इसीलिए चेतन सभी प्रकार के रागों से उन्मुक्त रहता है। भारतीय तत्त्वचिन्तकों के लिए ये अवस्थाएँ (तुरीय तथा तुरीयातीत) केवल कल्पनाएँ नहीं अपितु प्राप्य सत्य हैं। वस्तुतः, भारतीय तत्त्वचिन्तन की उच्च शाखाओं का तो एक मात्र लक्ष्य ही इन्हीं अवस्थाओं की प्राप्ति के सुगम मार्ग का निर्देशन रहा है। भारतीय दर्शन, जैसा कि लगभग सभी अधुनातन मनीषियों की धारणा है; वस्तुतः, आध्यात्मिक है। भारत में धर्म तथा दर्शन का गठबन्धन अनादिकाल से चला आ रहा है। यहाँ पर धर्म हठधर्मिता से अनुप्राणित नहीं अपितु इसकी आधारभित्ति है—जीवित अनुभूति। यह आध्यात्मिक सत्य की व्यावहारिक अनुभूति है। दर्शन वस्तुसत् का सिद्धान्त है। यह वस्तुसत् के स्वरूपानुभव के लिए एक अन्तर्दृष्टि मात्र है; जो हमें उन्मुक्तावस्था की ओर ले जाती है। अतः हम एक शब्द में कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन एक सिद्धान्तीकरण मात्र नहीं, अपितु, है—एक आध्यात्मिक पिपासा। उसी पिपासा को शान्त करने में भारतीय तत्त्वचिन्तक सचेष्ट रहा है। भारतीय तत्त्वचिन्तक के इसी अथक प्रयास का जो हम सजीव निदर्शन देख रहे हैं वह है हमारी पुनीत एवं विश्वाग्रगण्य संस्कृति। विश्व के इस विशाल प्रांगण में जाने कितनी संस्कृतियाँ आविर्भूत हुईं, आगे बढ़ीं किन्तु वे अब इतिहास के पृष्ठों तक शेष रह गयी हैं। हमारी संस्कृति अनेकों उथलोंपुथलों से टक्कर लेती हुई आज भी उसी शाश्वत आदर्श को अक्षुण्ण रक्खे हुए है। यही कारण है कि भारतीय जीवन से व्यतिरिक्त भारतीय दर्शन एक ढकोसला मात्र है। किसी भी दार्शनिक कृति का महत्त्व एक भारतीय इसी में मानता है कि वह कृतिकार की आध्यात्मिक साधना का प्रतिफलन हो, क्योंकि उस सरणि का सच्चा निर्देशक वही हो सकता है जो उस सरणि से सम्यक्रूपेण परिचित हो। अभिनव की कृतियों का महत्त्व इसीलिए इतना अधिक है कि लोगों को यह दृढ़ विश्वास है कि जो कुछ वह अतीन्द्रिय बातों के विषय में कहते हैं उनकी आधार हैं—उनकी व्यक्तिगत अनुभूतियाँ जिनकी प्राप्ति उनको वर्षों तक की गयी आध्यात्मिक साधनाओं द्वारा हुई है। वास्तव में इस दर्शन के प्रति इनके समसामयिकों तथा बाद के लोगों के इतने अधिक आकर्षण, इस अपूर्व ख्याति तथा काश्मीर के आजकल के पण्डितों की भी इस प्रगाढ़ श्रद्धा के प्रधान कारण थे—अभिनवगुप्त का अभूतपूर्व कृतित्व तथा यौगिक साधना। अपने शिक्षक एवं गुरु का सर्वात्मना अनुसरण

करने वाले क्षेमराज का भी इस दिशा में प्रयास कम नहीं कहा जा सकता। और कृतियों को जाने दीजिए, यदि हम उनके "प्रत्यभिज्ञाहृदय" पर ही दृष्टिपात करते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अन्त में उन्होंने जो "चिदानन्द-लाभ" के उपाय बताये हैं[1] तथा उनका जो सम्यक् प्रतिपादन किया है वह स्वतः इस बात का साक्षी है कि वह स्वयं एक साधक थे। जिस यौगिक क्रिया[2] का विशद निरूपण उन्होंने प्रस्तुत किया है वह सिद्धान्त मात्र जानने वाले व्यक्ति के मस्तिष्क की कल्पना नहीं प्रतीत होती, उसका एक-एक अक्षर इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उस मार्ग से वह स्वयं गुजरे थे और उनको नित्योदित समाधि[3] ही नहीं, वरन् प्राप्त हुआ था वह चिदानन्द जो एक योगी का जीवन-लक्ष्य होता है। अतः हम कह सकते हैं कि प्रस्तुत कृति न केवल प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र का प्रतिपादन मात्र करती है प्रत्युत कृतिकार का व्यक्तित्व भी बहुत कुछ इसी में मुखरित होता है। उनके पारिवारिक अथवा दाम्पत्य जीवन-विषयक तथ्यों का अभाव इस बात को और भी पुष्ट कर देते हैं कि वह अपने महान् गुरु की भाँति आजन्म ब्रह्मचारी तथा एक सिद्ध योगी थे। किसी भी व्यक्ति की अपनी अनुभूतियों पर आधृत बात लोगों के हृदय में अधिक घर कर लेती हैं। यही कारण है कि 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' का अनुशीलन काश्मीर का धार्मिक आस्था से अनुप्राणित व्यक्ति धार्मिक ग्रन्थ के रूप में करता है।[4]

इसके अतिरिक्त, 'चिति' की विचारधारा का उत्पल तथा अभिनवगुप्त ने **"चितिः प्रत्यवमर्शात्मा"** तथा **"चेतयति इत्यत्र या चितिः"** आदि के द्वारा निर्देश मात्र किया था। प्रत्यभिज्ञानय के साथ उसके मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध की मीमांसा का श्रेय आचार्य क्षेमराज को ही है। विश्वविकास की प्रक्रिया में चिति ही विविध संकोचों से गुजर कर चित्त का स्वरूप धारण कर लेती हैं—**"चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसंकोचिनी चित्तम्।"** जहाँ तक चिदात्मा का प्रश्न है, वह शिवभट्टारक से व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं और शिवभट्टारक को स्वतन्त्रेच्छा के कारण विविध संकोचों से होकर गुजरना पड़ता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्व की सिद्धि में "चिति" का स्वातन्त्र्य स्थापित करके वह मानस-पारमार्थिक रूप में उसका पर्यवसान करते हैं[5], और आगे चलकर

---

१. प्र० हृ० सू० १८

२. प्र० हृ० सू० १९

३. वही

४. देखिए प्र० हृ० अ० ला० पृ० ७-८

५. चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः ॥ प्र० हृ० सूत्र० १६

चिदानन्दावाप्ति के अन्य उपायों—मन्त्रवीर्य, यौगिकसाधना इत्यादि के साथ इसका सामञ्जस्य स्थापित करके[1] विश्राम लेते हैं। अतः, यदि हम यह कहें, कि शैवागमों एवं पूर्वजों से सूत्ररूप में प्राप्त जिस परम्परा को अभिनवगुप्त ने विस्तृत रूप देकर आगे बढ़ाना चाहा उसमें क्षेमराज का प्रधान योगदान है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। इसकी प्रमाण हैं, इनकी बहुसंख्यक कृतियाँ[2] जिनके ऊपर संक्षेप में विचार करके हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे।

प्रत्यभिज्ञाहृदय के अतिरिक्त क्षेमराज की अन्य कृतियाँ निम्नांकित हैं :

१. **स्वछन्दोद्योत**—इसमें शिव की स्वतन्त्र शक्ति का विशद निरूपण किया गया है। स्वतन्त्रेच्छा के विवेचन के अतिरिक्त सिद्धान्त-प्रतिपादन की सरल प्रणाली इस कृति की विशेषता है। यह "स्वच्छन्दतन्त्र" पर टीका है। इनकी कृतियों के ऐतिहासिक क्रम में यह इनकी प्रथम रचना प्रतीत होती है। इसका नामोल्लेख इनके द्वारा "स्तवचिन्तामणि" की विवृति (पृ० २२६) तथा "शिव-विमर्शिनीसूत्र" में हुआ है।[3]

२. **नेत्रोद्योत**—यह "नेत्र तन्त्र" के ऊपर टीका है।

३. **विज्ञानभैरवोद्योत**—यह "विज्ञानभैरव" के लघुभाग पर इनकी विवृति है। शेष भाग पर किसी कारण से वह नहीं लिख सके थे, अतः उसको श्री शिवो-पाध्याय ने पूरा किया।

४. **ध्वन्यालोक लोचनोद्योत**—यह आचार्य अभिनवगुप्त के "ध्वन्यालोक-लोचन" पर इनकी टीका है। इसका नामोल्लेख मात्र हमें उपलब्ध होता है। अभीतक, दुर्भाग्यवश, इसकी उपलब्धि नहीं हो सकी। अच्छा होता कि इसकी उपलब्धि हो जाती। इससे "लोचन" की बहुत-सी गुत्थियाँ सुलझ सकती थीं।

५. **स्पन्दसन्दोह**

उत्पल की "स्पन्दकारिका" की प्रथम कारिका के ऊपर इनकी व्याख्या है, जिसमें इन्होंने प्रायशः सम्पूर्ण स्पन्दशास्त्र पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

---

१. तदा प्रकाशानन्दसारमहामन्त्रवीर्यात्मकपूर्णाहन्तावेशात् सदा सर्वसर्ग-संहारकारिनिजसंविद्देवताचक्रेश्वरताप्राप्तिर्भवतीति शिवम्।
(प्र० हृ० सू० २०)

२. कृतियों के निर्णय में जिस पथ का अवलम्बन आफ्रेक्ट महोदय, चटर्जी महोदय तथा डा० पाण्डेय ने किया है, उसी पथ का अनुसरण इन पंक्तियों के लेखक ने भी किया है।

३. तथा अस्मभिः श्रीस्वच्छन्दोद्योते पंचमपटलान्ते दीक्षाविचारे वितत्य दर्शितम्।—शि० सू० वि० पृ० १२

ऐतिहासिक पौर्वापर्य की दृष्टि से यह "स्पन्दनिर्णय[1]" से पहिले की रचना प्रतीत होती है, क्योंकि उसमें उन्होंने कई बार[2] उसका उल्लेख किया है।

६. स्पन्दनिर्णय

यह सम्पूर्ण स्पन्दकारिका के ऊपर इनकी टीका है। जैसा कि हम तिथि-निर्णय के प्रसंग में बता चुके हैं कि डा० ब्हूलर ने उपर्युक्त दोनों कृतियों की पुष्पिका में लिपिक के प्रमाद के कारण क्षेमेन्द्र का नाम आ जाने से इनको क्षेमेन्द्र की कृति बताने की चेष्टा की है किन्तु डा० पाण्डेय ने यह समस्या सदैव के लिए समाप्त कर दी है।[3]

७. शिवसूत्रविमर्शिनी

प्रस्तुत विमर्शिनी वसुगुप्त के शिवसूत्रों पर एक विशद व्याख्यान है। इसमें त्रिकदर्शन के मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन अत्यन्त वैदुष्यपूर्ण एवं सरल शैली में किया गया है। सूत्रों को छोड़कर यदि विमर्शिनी को पृथक् रखा जाय तो स्वतंत्र ग्रन्थ बन सकता है। इससे बढ़कर कृति की सफलता का प्रमाण और क्या हो सकता है ?

८. स्तवचिन्तामणिविवृति

प्रस्तुत विवृति, जैसा कि हम इनके स्थान-निर्णय के प्रकरण में कह चुके हैं, क्षेमराजने किसी सूरादित्य नामक राजा की प्रार्थना पर भट्टनारायण की "स्तवचिन्तामणि" पर किया था :

"स सूरादित्यो मां बहु बहुलभक्त्यार्थयत यत्।
स्तुतौ तेनाकार्ष विवृतिमिह नारायणकृतौ ॥

(स्त० चि०, पृ० १३०)

९. उत्पलस्तोत्रावली टीका

प्रस्तुत कृति आचार्य उत्पल के स्तोत्रों पर टीका है। इसमें टीकाकार ने आचार्य उत्पल द्वारा उपनिबद्ध स्तोत्रों के गूढ़ रहस्यों को अत्यन्त बोधगम्य शैली में समझाने का प्रयास किया है।

---

१. अनन्तापरटीकाकृन्मध्ये स्थितिममृष्यता।
विवृतं स्पन्दशास्त्रं नो गुरुणा नो मयास्य तु ॥

(स्पं० नि०, ७७)

२. स्पन्दामृते चर्वितेऽपि स्पन्दसन्दोहतो मनाक्।
पूर्वरतच्चर्वणाभोगोद्योग एष मयाश्रितः ॥

(स्पं० नि०, ७)

३. अ० गु० द्वि० सं० पृ० २५६

१०. पराप्रवेशिका

११. साम्बपंचाशिका टीका

१२. क्रमस्तोत्र टीका

प्रस्तुत टीका उन्होंने उत्पल के क्रमस्तोत्र पर की है। इसके विषय में माहेश्वरानन्द ने अपनी "महार्थमंजरी" की व्याख्या में अधोलिखित विवरण दिया है।

"यदुक्तं श्री क्रमसूत्रेषु.........
यथा च व्याख्यातं श्रीमत्क्षेमराजेन।"

१३. एक स्तोत्र

इसके विषय में हमें निम्नांकित उल्लेख इन्हीं की "स्तवचिन्तामणिविवृति" में उपलब्ध होता है--

"तदुक्तं मयापि स्वस्तोत्रे"

१४. भैरवानुकरणस्तोत्र

इन्हीं की "साम्बपंचाशिका" की भूमिका में इसको भी इनकी एक कृति माना गया है।

१५. परमार्थसंग्रहविवृति

डा० ब्हूलर के "काश्मीर कैटेलाग" में इसका भी नामोल्लेख मिलता है। मूलग्रन्थ अभिनवगुप्त का माना जाता है।

१६. उत्पल की परमेशस्तोत्रावली पर वृत्ति

(इसके अतिरिक्त कुछ कृतियाँ चटर्जी महोदय तथा आफ्रेक्ट महोदय द्वारा और निर्दिष्ट की गयी हैं जिनका कुछ विशेष विवरण नहीं उपलब्ध हो सका। किन्तु हम उनको उसी क्रम में रख रहे हैं।)

१७. तत्त्वसन्दोह

जैसा कि नाम ही से स्पष्ट है इसमें, प्रतीत होता है, इन्होंने त्रिकतत्त्व-ग्राम की चर्चा की है।

१८. वर्ण-उदय

१९. स्पन्दनिलय

२०. स्वच्छन्दनय

२१. महार्थमंजरी टीका

इस प्रकार हम इनकी कृतियों के इस महान् जाल को देखकर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अपने महान् गुरु की भाँति इन्होंने अपनी लेखनी व्याख्याओं के क्षेत्र में ही अधिक चलायी। इसके अतिरिक्त इनकी प्रायशः सभी कृतियों में आचार्य अभिनव की शैली का प्रभाव पदे-पदे परिलक्षित होता है। इससे भी अनुमान लगाया जा सकता है कि यह अभिनव के कितने सन्निकट थे। शैली में कृतिकार की आत्मा बोलती है। अतः क्षेमराज की कृतियों में मिलती है सरलता, पवित्रता, तथा साथ-ही-साथ काश्मीर शिवाद्वयवाद के क्षेत्र में उनके पाण्डित्य का परिचय। इनकी व्याख्यान-प्रणाली है--दार्शनिक, प्रभावोत्पादक, सागर्भित तथा विषयानुरूपिणी जिसका अभाव महान् व्याख्याकारों की व्याख्याओं में प्रायशः खटकता है। स्थल-स्थल पर कृतिकार मूल ग्रन्थ के प्रति पूर्ण न्याय करता हुआ प्रतीत होता है।[1] इस प्रकार, यद्यपि, क्षेमराज को अधिकांशतः हम एक टीकाकार के रूप में जानते हैं किन्तु यह कहना नितान्त भूल होगी कि उनकी कृतियाँ अपने स्वतन्त्र अस्तित्व से विरहित हैं। उनकी कृतियों में परिलक्षित उनका कृतित्व इस बात का सबल प्रमाण है कि काश्मीर शिवाद्वयवाद की धारणा को आगे बढ़ाने में इन्होंने सविशेष योग दिया है।

१. स्व० तं० भूमिका

प्रत्यभिज्ञाहृदय

"प्रत्यभिज्ञाहृदय" काश्मीरशैवदर्शन की उन इनी-गिनी कृतियों में से है जिनकी गणना न केवल काश्मीर अपितु दक्षिण में भी दार्शनिक ही नहीं धार्मिक ग्रन्थ के रूप में होती है। इतना ही नहीं, वी० आर० सुब्रह्मण्य अय्यर ने १९१८ ई० में इसका तमिल रूपान्तर के साथ एक संस्करण भी निकाला था एवं १९२० में अमलपुरम् में श्री लक्ष्मी नरसिंहम् ने दक्षिण शैव सिद्धान्त के आधार पर इसकी तेलुगू व्याख्या भी की थी।[1]

आफ्रेख्ट महोदय ने इसका नामोल्लेख "ईश्वरप्रत्यभिज्ञाहृदय" के रूप में किया था।[2] उत्तर भारत में इस ग्रन्थ से हमारा प्रथम परिचय श्री जगदीशचन्द्र चटर्जी द्वारा सम्पादित संस्करण के रूप में होता है। दूसरा है—अडियार लाइब्रेरी द्वारा सम्पादित संस्करण जिसका, प्रथमतः इमिलवेयर महोदय ने जर्मन में अनुवाद किया था तथा उसी के आधार पर कर्ट एफ० लेडेकर महाशय ने अंग्रेजी अनुवाद एव संक्षिप्त टिप्पणियों के साथ इसे प्रकाशित करवाया है। यों तो उन्होंने अपने अनुवाद में चटर्जी महोदय तथा अन्य पाँच पाण्डुलिपियों से भी सहायता ली है।[3] किन्तु, मुख्यतः, इनके अनुवाद का आधार उक्त संस्करण ही रहा है।

यह तो हुई इसके प्रचार-विस्तार की बात। अब हमें देखना है कि उसका संस्कृत वाङमय एवं काश्मीरशिवाद्वयवाद के ग्रन्थों में क्या स्थान है तथा इसके प्रचार एवं प्रसार में इसका क्या योगदान रहा है। डा० बर्नेट, काश्मीर शैवदर्शन से परिचित कुछ थोड़े योरोपीयों में से हैं। वे इसको भारत के साहित्यिक इतिहास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मानते हैं।[4] लेडेकर महोदय जहाँ अपने अनुवाद के लिए इसी को चुनने के कुछ अन्य कारण बताते हैं, वहीं उनको काश्मीर

---

१. देखिए प्र० हृ०, अ० ला०, भूमिका पृ०५

२. देखिए, कैटेलागस कैटेलागरम

३. देखिए, उक्त भूमिका, ६ और ७

४. I am convinced that it is immensely important for the literary history of India.

प्र० हृ० अ० ला० पृ० ४

ग्रन्थमाला की कुछ अन्यतम कृतियों में से यह भी एक प्रतीत होती है। चटर्जी महोदय तो इस ग्रन्थ का काश्मीर शिवाद्वयवाद से वही सम्बन्ध बताते हैं जो सदानन्द के "वेदान्तसार" का वेदान्त से है।[१]

भारत में सूत्र-प्रणाली का प्रथम उन्मेष कब हुआ, यह कहना तो कठिन है, किन्तु, हाँ, इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि एक दीर्घ काल से इसका प्रयोग हमें भारतीय चिन्तन के क्षेत्र में उपलब्ध हो रहा है। एक युक्ति यह दी जा सकती है कि इसका प्रादुर्भाव व्याकरण-शास्त्र के साथ हुआ किन्तु यह तभी संभव है जब व्याकरण का उदय-काल अविवादास्पद हो। अपनी अनिर्वचनीय विशेषता के कारण यह प्रणाली व्याकरणशास्त्र तक ही सीमित न रह सकी। इसने भारतीय वाङ्मय की अन्य शाखाओं में भी प्रवेश किया तथा भारतीय तत्त्व-चिन्तन जगत् तो इससे इतना प्रभावित हुआ कि इसने इसी प्रणाली को अपने अभिव्यक्तीकरण का प्रधान साधन बना लिया। यही कारण है कि कपिल से लेकर कणाद तथा गौतम एवं जैमिनि से लेकर बादरायण तक जितने भी शास्त्रों एवं विचार-धाराओं का प्रतिपादन हुआ उन सबका माध्यम यही प्रणाली रही। काश्मीर का उन्मुक्त चिन्तक भी इस प्रणाली से अप्रभावित न रह सका। यहाँ तक कि काश्मीर शिवाद्वयवाद के अधिष्ठातृ देव स्वयं भगवान् शिव भी वसुगुप्त को इस शास्त्र का उपदेश इसी प्रणाली में देते हैं।[२] यहीं पर क्या यह कहना अनुपयुक्त होगा कि जिन माहेश्वर के डमरू के चौदह तालों ने पाणिनीय शास्त्र को जन्म दिया उन्हीं माहेश्वर ने काश्मीरत्रिकशास्त्र का उपदेश भी किया, अतः यह प्रणाली मानव-मस्तिष्क की उपज नहीं प्रत्युत उन्हीं के विराट् मस्तिष्क की उपज थी? कुछ भी हो, इस शास्त्र की प्रथम कृति शिवसूत्र[३] (जो वसुगुप्त को स्वयं शिव द्वारा उपदिष्ट सूत्रों का संग्रह मात्र है) को भी हम इसी प्रणाली में प्रणीत पाते हैं। इसके पश्चात् उत्पल तथा कल्लट प्रभृति आचार्य ने इसी सूत्र-प्रणाली को अपने शास्त्र-प्रतिपादन का माध्यम बनाया। आचार्य क्षेमराज भी यदि एक ओर अपने महान् गुरु द्वारा प्रवर्तित व्याख्या-परम्पराको चलाते हुए प्रतीत होते हैं तो दूसरी ओर एक सूत्रकार के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। और इसका साक्षात् प्रमाण है "प्रत्यभिज्ञा हृदय"।

---

१. It bears the same relation to the Advait Shaiva System of Kashmir as the Vedanta-Sara of Sadananda does to Vedant Systems.

का० शै०, भूमिका

१. सूत्रमाह महेश्वरः अथवा शिवः सूत्रमरीरचत् — शिवसूत्र-वार्तिक

२. देखिए शिवसूत्र, का० सं० सी०

सूत्रों की यह प्रणाली हमें दो रूपों में उपलब्ध होती है। एक तो यह कि सूत्र किसी प्राचीन आचार्य द्वारा प्रणीत होते हैं तथा उस पर विवृति अथवा व्याख्या उसी का कोई छात्र या परवर्ती आचार्य करता है, क्योंकि सूत्रकार, जैसा कि स्वाभाविक है, अपने सूत्रों में किसी भी शास्त्र का सम्यक् प्रतिपादन नहीं कर सकता। वह तो किसी भी शास्त्र अथवा सिद्धान्त का सूत्र मात्र देता है; अथवा दूसरे शब्दों में, संकेत मात्र करता है। सूत्रकारों ने सूत्र का लक्षण भी किया है :

स्वल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥

अतः व्याख्याकार इन सूत्रों में विवक्षित (तथा कभी-कभी अविवक्षित) सिद्धान्तों का सम्यक् प्रतिपादन करता है।

दूसरे रूप में उपलब्ध इस प्रणाली में सूत्रकार एवं व्याख्याकार एक ही व्यक्ति होता है। प्रस्तुत कृति की गणना इसी कोटि में की जा सकती है। यद्यपि लेडेकर महोदय ने इसके विपक्ष में अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनके विचार में इसके सूत्रों की रचना किसी अज्ञात आचार्य ने की है तथा उस पर व्याख्या क्षेमराज की है।[1] किन्तु उनके इस विचार का हमें कोई ठोस आधार नहीं प्रतीत होता। चटर्जी महोदय तथा डा० पाण्डेय ने तो इस प्रकार के सन्देह को स्थान ही नहीं दिया।[2] इसके अतिरिक्त यदि कोई ऐसी बात होती तो आफ्रेक्ट महोदय तथा डा० ब्हूलर इस दिशा में कुछ न कुछ निर्देश अवश्य करते। और सब कुछ जाने दीजिए स्वयं ग्रन्थकार भी कहीं कोई ऐसी बात नहीं कहता जिसके आधार पर हम अपने हृदय में इस प्रकार के संदेह को पनपने दें। इसके विपरीत वह स्वयं सूत्र प्रारम्भ होने के पूर्व ही कहता है :

"शांकरोपनिषत्सारप्रत्यभिज्ञामहोदधेः ।
क्षेमेणोद्ध्रियते सारः संसारविषशान्तये ॥"

(प्र० हृ० मं० श्लो० २)

जिसमें "सार" से उसका अभिप्राय सूत्र ही हो सकता है क्योंकि आगे वह उसकी व्याख्या में "उन्मील्यते[3]" पद का प्रयोग करता है जिसका अर्थ हो सकता है—'विशदीक्रियते'। यही बात वह इसके अन्त में भी दृढ़ करता हुआ प्रतीत

---

१. देखिए प्र० हृ० अ० ला०, भूमिका, पृ० ८
२. देखिए का० शै० पृ० ३५, ३७ तथा अ० गु० द्वि० सं० पृ० २५६
३. इह ये सुकुमारमतयः............तेषामीश्वरप्रत्यभिज्ञोपदेशतत्त्वं मनागुन्मील्यते।—प्र० हृ० अ० ला०, पृ० २०

होता है[1]। इसके अतिरिक्त यदि सूत्रकार व्याख्याकार से भिन्न कोई व्यक्ति होता तो वह सूत्र की समाप्ति पर पुष्पिका अवश्य देता। किन्तु ऐसा हमें किसी भी संस्करण में देखने को नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त यह परम्परा कम से कम काश्मीर शैवदर्शन के आचार्यों में कोई नवीन नहीं। इनके पूर्व कल्लट तथा उत्पल ने अपनी "स्पन्दकारिका" एवं "ईश्वरप्रत्यभिज्ञा" जैसी सूत्रकृतियों पर वृत्ति एवं विवृति लिखी थी। अतः इस प्रकार के संदेह अथवा विरोध को जन्म देना लेडेकर महोदय के परम्परा के कट्टर अनुयायी होने का ही परिचायक प्रतीत होता है।

इनकी अन्य कृतियाँ, प्रायशः, किसी पूर्व आचार्यकृत सूत्रों अथवा कारिकाओं पर व्याख्याएँ हैं[2]। केवल "प्रत्यभिज्ञाहृदय" ही एक ऐसी कृति है जो सर्वांशतः इनकी स्वतन्त्र कृति मानी जाती है। यद्यपि इसके पौर्वापर्य के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वाचार्यों की कृतियों पर व्याख्याएँ करने के पश्चात् जब इनमें पूर्ण परिपक्वता आ गयी होगी तभी इन्होंने "प्रत्यभिज्ञाहृदय" की रचना की होगी। पुस्तक लघ्वाकार होते हुए भी प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के सिद्धान्तों का इतना सम्यक् एवं स्पष्ट प्रतिपादन करती है कि पाठक को समझने में रंचमात्र भी कठिनाई नहीं होती। इसके अतिरिक्त इनकी अन्य, अधिकांश, कृतियों में किसी में धार्मिक पक्ष की ही प्रधानता रही है और किसी में दार्शनिक विवेचन की। उदाहरणतः इनकी "शिवसूत्रविमर्शिनी" यद्यपि इनकी अन्य कृतियों की अपेक्षा बृहत्काय ग्रन्थ है, किन्तु उसमें वसुगुप्त के शिवसूत्रों की विशद व्याख्या के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। वसुगुप्त का एकमात्र उद्देश्य रहा है मानव मात्र को यह समझाना कि वह परमात्मा से अपने वास्तविक तथा आन्तरिक स्वरूप में, व्यतिरिक्त नहीं। और, इस प्रकार, वह अनेकानेक दुःखों से आवृत इस सीमित जीवन से पूर्ण मुक्ति पा सकता है, तथा उसी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की भाँति सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ हो सकता है, और सृष्टि तथा संहृति की समस्त शक्ति प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार "शिवसूत्र" केवल मानव को उसके जीवन के लक्ष्य की ओर प्रेरित करने का उपदेश मात्र है अतः इसका व्याख्याकार भी अपनी व्याख्या को ही विशद रूप दे देता है। इतना अवश्य है कि इन सूत्रों तथा विमर्शिनी को समझना तब तक यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है, जब तक कि हमको काश्मीर शिवाद्वयवाद के मूल सिद्धान्तों का सम्यक् ज्ञान न हो।[3] अतः किसी भी कृति

१. देखिए, प्र० हृ० अन्तिम श्लोक

२. देखिए "क्षेमराज ,प्रतिभा एवं कृतित्व"

३. देखिए भूमिका शि० सू० वि० पृ० ४-५

को शुद्ध धार्मिक कहें अथवा दार्शनिक, यह एक समस्या हो चली थी। हम निश्चित रूप से तो नहीं कह सकते; किन्तु ऐसा लगता है कि अन्य ग्रन्थों के विषय में भी यही समस्या रही होगी। अतः अनिश्चय की इस स्थिति में "प्रत्यभिज्ञा-हृदय" की रचना एक महत्त्वपूर्ण घटना है। यह न तो केवल धार्मिक उपदेश है और न दार्शनिक व्याख्यान, अपितु है—दोनों का सामंजस्य, जो भारतीय दर्शन की आत्मा है। इसमें जो सिद्धान्त अनुस्यूत हैं, वे जहाँ एक ओर साधक के लिए "ईश्वरप्रत्यभिज्ञान" के लिए तत्त्वोपदेश का काम करते हैं वहीं दूसरी ओर एक तत्त्वचिन्तक के लिए इस विश्वप्रक्रिया में उस परमेश्वर के रहस्य का उन्मीलन। अतः, अपनी इसी विशेषता के कारण यह न केवल इसी कृतिकार की कृतियों में अपितु काश्मीरशिवाद्वयवाद सम्बन्धी अन्य सभी कृतियों में विशेष स्थान रखती है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन के मूल तत्त्व

परमार्थस्वरूप-चर्चा

परमात्मा, विश्व, आत्मा तथा जीवन्मुक्ति यही प्रत्यभिज्ञाहृदय के प्रतिपाद्य हैं। वस्तुतः आत्मा, परमात्मा तथा विश्व में तादात्म्य स्थापित करना ही कृतिकार को अभिप्रेत रहा है तथा आद्योपान्त वह इसी दिशा में प्रयत्नशील प्रतीत होता है। अब हमें देखना है कि त्रिकदर्शन में परमार्थ का क्या स्वरूप है और प्रत्यभिज्ञाहृदयकार ने उसका किस रूप में समुपस्थापन किया है।

यह प्रश्न तो प्रायः निर्विवाद सा हो चुका है कि दर्शन धर्म का ही विकसित रूप है। विशेषतया भारतीय दर्शन की प्रमुख शाखाओं—बौद्धदर्शन, जैनदर्शन, वैष्णवदर्शन, शाक्तदर्शन तथा शैवदर्शन के विषय में तो यह बात सर्वांशतः सत्य है। शैवदर्शन, जैसाकि इसके अभिधान से स्पष्ट है, धर्म से ही उद्गमित हुआ है तथा भगवान् शिव को अपना अधिष्ठातृदेव मानता है। इस देवता का उल्लेख वेदों में विभिन्न नामों से हुआ है, उदाहरणार्थ शंभव, मयोभव, शंकर, शिव तथा रुद्र आदि। इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी इस बात से परिचित होगा कि हड़प्पा तथा मोहनजोदाड़ो, जो भारतीय पुरातत्त्व अनुसन्धान की प्राचीनतम उपलब्धियाँ हैं, की सभ्यताओं में भी शिव (पशुपति) ही प्रधान उपास्य देव थे। आज भी शैवधर्म हिन्दू धर्म की एक प्रधान शाखा के रूप में प्रतिष्ठित है। इतना ही नहीं भारत तथा अन्य समीपवर्ती राष्ट्रों—जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया आदि में भी शैवधर्म सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण स्मारक उपलब्ध होते हैं।

हिन्दी के महान् मनीषी तथा भाषा-विचारक डा० रघुवीर ने अपनी विदेश-यात्रा में कम्बुज (कम्बोडिया) में कतिपय पाण्डुलिपियाँ प्राप्त की थीं जिनमें से एक काश्मीर त्रिकनय से पूर्णतया साम्य रखती है। प्राचीन भारतीय इतिहास के महान् विद्वान् डा० फिलियोजा ने भी एक बार लखनऊ विश्वविद्यालय के डा० राधाकुमुद मुकर्जी व्याख्यान माला में व्याख्यान देते समय इस बात पर यथेष्ट प्रकाश डाला था कि कम्बोडिया तथा अन्य कई देशों में शैवनय न केवल धर्म के रूप में ही प्रचलित है अपितु उसके दार्शनिक सिद्धान्त भी अक्षरशः वही हैं जो काश्मीरत्रिकदर्शन के।

इस प्रकार हमने देखा कि धर्म दर्शन को जन्म देता है किन्तु वही दर्शन धर्म के क्षेत्र में प्रयुक्त शब्दों का प्रयोग नवीन अर्थ में कर सकता है तथा धार्मिक कथाओं एवं विचारों को दर्शन के सांचे में ढाल सकता है। जैसा कि भारतीय तत्त्व चिन्तन की दो प्रमुख शाखाओं—वैष्णवदर्शन तथा शैवदर्शन ने किया है। अथवा यह धर्म से अपना पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद कर सकता है तथा तर्क को ही अपना सर्वस्व बना सकता है जैसाकि पाश्चात्य हेतुवाद के विषय में कहा जा सकता है।

शैवदर्शन ने धर्म से सम्बन्ध विच्छेद करना उचित नहीं समझा। शैवदर्शन के निष्यन्दस्वरूप आगम-साहित्य में प्रत्येक आगम के चार विभाग हैं–(१) विद्या, (२) क्रिया, (३) योग तथा (४) चर्या। इनमें से प्रथम तो तत्त्वों तथा शुद्ध दार्शनिक विषयों का निरूपण करता है, दूसरा विभिन्न प्रकार की आध्यात्मिक दीक्षाओं तथा तत्सम्बद्ध कर्मकाण्डों पर प्रकाश डालता है और चूँकि योग के बिना आत्मबोध सम्भव नहीं, अतः तीसरा योग के विविध रूपों का विवेचन करता है तथा चौथा आचार के नियम निर्धारित करता है क्योंकि बिना यम के दम सम्भव नहीं। इस प्रकार शैवदर्शन का सम्बन्ध शुद्ध तार्किक युक्तियों से नहीं। यह तो धर्म, दर्शन तथा आचार-शास्त्र के सामंजस्य में विश्वास करता है।

यदि हम, 'अभिनवगुप्त' की 'विमर्शिनी' तथा 'भास्करकण्ठ' की 'भास्करी' पर दृष्टिपात करते हैं तो देखते हैं कि उनके अनुसार धर्म उसी परम सत्ता का पौराणिक आख्यान उपस्थित करता है, दर्शन हेतुवाद का सहारा लेकर उसे विश्व नियन्ता के रूप में स्थापित करता है, और योग उसकी परोक्ष मीमांसा करता है।[1] क्रियाधिकार के मंगल श्लोक में अभिनवगुप्त "गौरीपति" शब्द का प्रयोग करते हैं। उसकी व्याख्या करते समय भास्कर इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि धर्म के क्षेत्र में तो "गौरीपति" गौरी अर्थात् पार्वती के पति—शिव के रूप में प्रयुक्त होता है किन्तु यहाँ गौरी का अभिप्राय है इसकी अतिनिर्मल शक्ति से (**अतिनिर्मलाया अस्या एव शक्तेः**) तथा पति का तात्पर्य है, शक्ति से युक्त होने के कारण स्वामीस्वरूप (**शक्तिमत्त्वेन स्थितत्वात् भर्तृरूपः**[2])। अभिनव तथा भास्कर प्रत्येक मंगलश्लोक में प्रायशः प्रतिपाद्य वस्तु की सूचना दे देते हैं। क्षेमराज भी,

नमः शिवाय सततं पंचकृत्याभिधायिने।
चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थावभासिने ॥[3]

के द्वारा इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए प्रतीत होते हैं।

---

१. देखिए, ई० प्र० वि० क्रिया० मं० श्लो० १ तथा उस पर भास्करी
२. ई० प्र० वि० (क्रिया०) मंगल लोक १ पर भास्करी
३. प्र० हृ० मं० १

वस्तुतः, यदि हम प्रत्यभिज्ञाहृदय का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें तो देखते हैं कि इसको सामान्य धार्मिक धारणा पर आधारित ईश्वर के सर्वशक्तिमान् तथा सर्वकर्तृत्वयुक्त परमेश्वर के रूप में दार्शनिक मीमांसा करने के अतिरिक्त और कुछ अभीप्सित नहीं। सर्वशक्तिमत्त्व तथा सर्वकर्तृत्व की शैवधारणा संज्ञा-साम्य रखने वाले वैशेषिकों के ईश्वर से भिन्न है। वैशेषिक का ईश्वर स्वतन्त्र नहीं क्योंकि उसे सृष्टि रचना के लिए परमाणुओं के अधीन रहना पड़ता है। इसके अतिरिक्त न्याय का आधार है बहुत्ववादी विचारधारा जबकि शैवदर्शन का महेश्वर पूर्ण स्वतन्त्र है तथा इसकी आधार है अद्वैतवादी विचारधारा।

विश्व की कर्णधार उस चरम सत्ता की कल्पना विभिन्न मतावलम्बियों ने विभिन्न रूपों में की है। उसी त्रैलोक्याधिनायक की व्यापक निष्ठा से ओतप्रोत कोई भक्त कहता है :

"यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोयं नो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥"

स्तुति जहाँ एक ओर, भक्ति की व्यापक एवं अनन्य निष्ठा पर प्रकाश डालती है वहीं, दूसरी ओर, विभिन्न तत्त्वचिन्तक सम्प्रदायों की विश्वात्मा सम्बन्धी मान्यताओं का भी स्पष्ट निर्वचन करती है। आइए, नाना रूपों में अधिगत उसी सत्ता पर विचार करें। यद्यपि भक्त की इस वाणी में कुछ मतावलम्बियों की उक्त मान्यता को प्रश्रय नहीं मिला है तथापि हम नाना मतों में अभिव्यक्त उसी के स्वरूप का संक्षिप्त स्पष्टीकरण कर सकें, यहाँ यही हमारा अभीष्ट प्रयोजन होगा।

पूर्व मीमांसा तो अपने वैदिक धर्म के अनुष्ठान के लिए चरम सत्ता की आवश्यकता ही नहीं समझती। जैमिनि उस सत्ता को उस रूप में अस्वीकार करते हुए नहीं प्रतीत होते जितनी कि वे उसकी ओर असावधानी दिखलाते हैं। मीमांसा के लिए, यह सोचना, कि परमेश्वर सभी आत्माओं की शक्तियों को एक साथ अवरुद्ध कर लेता है तथा दूसरी सृष्टि के प्रारम्भ होने पर उनमें पुनः चेतना का संचार करता है, बेकार की खुराफात है।[1] प्रभाकर जहाँ एक ओर, यह स्वीकार करते हैं कि विश्व नाना अवयवों का एक समाहित स्वरूप है जो सादि तथा सान्त है, वहीं यह भी कहते हैं कि विश्व अनादि तथा अनन्त है। अतः अपने मां-बाप से उत्पन्न विभिन्न जीवों की सृष्टि में हम किसी दिव्य शक्ति के हस्त-

१. I. P. R. p. 424

क्षेप की आवश्यकता नहीं समझते । कुमारिल ने भी तर्क द्वारा स्थापित ईश्वर की सत्ता तथा ईश्वर द्वारा वेदों की सृष्टि की अनेकानेक युक्तियों द्वारा कटु आलोचना की । शबर भी लगभग इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हुए प्रतीत होते हैं । किन्तु परमात्मन् के विषय में पूर्व-मीमांसा की यह धारणा इतनी असंतोषजनक प्रतीत हुई कि उत्तरकालीन आचार्यों में परम सत्ता के अस्तित्व की धारणा घर करने लगी है । किन्तु उस नियन्ता को कर्म-सिद्धान्त के अधीन समझने की आवश्यकता का अनुभव नहीं हुआ, क्योंकि यही कर्म तो उसका स्वरूप है और कोई भी अपने स्वरूप के अधीन नहीं होता । यह कर्म-सिद्धान्त तो उसी के क्रिया-कलाप के अक्षुण्ण प्रवाह का परिचायक है । फिर कुमारिल भी तो मोक्ष के लिए कर्म तथा उपासना दोनों की आवश्यकता पर बल देते हैं, तो यदि ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं तो उपासना कैसी ? अतः बाद के आचार्यों को इस बात का अनुभव होने लगा कि यदि यह शास्त्र अपने को आस्तिकता से सम्बद्ध नहीं करता तो लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर सकता । इसीलिए आपदेव तथा उन्हीं के आधार पर लौगाक्षिभास्कर का यह डिण्डिमघोष है कि यदि यज्ञ का अनुष्ठान परमेश्वर के नाम पर किया जाय तभी परमलक्ष्य की प्राप्ति होगी ।[1] इसका प्रमाण वह मानते हैं :

"यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥"९।२८

इस गीतावचन को ।

इस प्रवृत्ति को पूर्ण प्रश्रय मिलता है वेदान्तदेशिक की "सेश्वर मीमांसा" में ।

वस्तुतः पूर्व-मीमांसा कर्मकाण्ड पर अधिक बल देती है । इसके अनुसार विश्व की चरम सत्ता है, कर्म—"कर्मेति मीमांसकाः" । ईश्वर और कुछ नहीं अपितु है—धर्म । धर्म के विषय वेदों में अनुस्यूत हैं तथा वेद तो केवल उसी परमेश्वर के मस्तिष्क की व्याख्या करते हैं ।[2] कुमारिल तो वेद को शब्दब्रह्म मानते हैं तथा उसका कर्ता परमात्मा को ही बताते हैं ।[3] अपने श्लोकवार्तिक का तो प्रारम्भ वह शिव की स्तुति से करते हैं ।[4] इस समझौते के कारण वह जनसमुदाय में लोकप्रियता की प्राप्ति बताते हैं ।[5]

---

१. **ईश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः । अ० सं० कौ०, १४०**

२. **देखिए** I. P. R. P. 428

३. **शब्द ब्रह्मेति यच्चेदं शास्त्रं वेदाख्यमुच्यते ।**
तदपि अधिष्ठितं सर्वं एकेन परमात्मना ॥—तं० वा० पृ० ७१९

४. **विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेददिव्य चक्षुषे ।**
श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्द्धधारिणे ॥ श्लो० वा०, १-१

५. **प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता ।**
तां आस्तिकपथे कर्तुं अयं यत्नः कृतो मया ॥ श्लो० वा० १-१०

साम्प्रतिक तत्त्वसमीक्षक मीमांसा-शास्त्र के इसी खोखलेपन से इतना असन्तुष्ट हो जाता है कि इसमें दर्शन की प्रकृति का अभाव अनुभव करने लगता है। और इसी कारण उसको वैष्णव, शैव अथवा तान्त्रिक विचार-धाराओं का उदय इसी के प्रति प्रतिक्रिया का प्रतिफलन प्रतीत होता है[1]।

वेदान्त में प्रकाशानन्दैकघन ब्रह्म को ही जगत् का उपादान कारण माना जाता है:

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥

इस श्रुति के अनुसार कृत्स्न व्यावहारिक प्रपंच का उपादान कारण ब्रह्म है[2]। यही ब्रह्म माया से युक्त होकर सगुणब्रह्म, अपरब्रह्म, अथवा ईश्वर कहलाता है। ये लोग जीव तथा ब्रह्म में कोई पारमार्थिक भेद नहीं मानते है--"**जीवो ब्रह्मैव नापरः**।" इनके जीव तथा ब्रह्म का भेद केवल व्यावहारिक है। अर्थात् जब तक जीव अविद्याग्रस्त है और द्वैत-प्रपंच में लिप्त है तब तक वह अपने रूप को नहीं जानता है किन्तु जैसे ही भगवती श्रुति उसे मोह-निद्रा से जगा देती है त्योंही उसे आत्मावबोध हो जाता है तथा वह अपने को देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि से परे अद्वैत तत्त्व समझने लग जाता है तथा अखण्ड आत्मानन्द में लीन हो जाता है। अविद्या के नष्ट होते ही अविद्याजन्य कार्यजाल भी नष्ट हो जाते हैं तथा अहन्ता-बुद्धि जीवत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि मिथ्या कल्पनाएँ समाप्त हो जाती हैं और जीवब्रह्मैक्यज्ञान का भाव आ जाता है। ईश्वर तो सदैव अविद्या से मुक्त रहता है।[3] शंकर जीव तथा ईश्वर का भेदनिरूपण करते हुए कहते हैं कि जहाँ ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है तथा सर्वव्यापी है, वहाँ जीव अज्ञानी, तुच्छ तथा शक्तिहीन है। किन्तु आपाततः प्रतीत होने वाला यह भेद पारमार्थिक दृष्टि से असत् है। यह कहना, कि विद्या द्वारा अविद्या के नष्ट होने पर जीव ब्रह्म हो जाता है उपचार मात्र है क्योंकि वस्तुतः जीव ब्रह्म से व्यतिरिक्त कुछ है ही नहीं।[4] जिस प्रकार पास रखे हुए जपापुष्प की अरुणिमा के

---

1. No wonder, a reaction occurred in favour of a mono theism, vaisnava, saiva, or tantrika, which gave man a supreme God on whom he could depend and to whom he could surrender himself in sorrow and suffering. —I. P. R., p. 429

२. देखिए, सि० ले० सं० पृ०७१

३. नित्यनिवृत्ताविद्यत्वात्, शां० भा० ३-२।९

४. देखिए, बृहदारण्यक भाष्य ४।४।६

कारण शुभ्रस्फटिक में अरुणिमा का, निरंजन आकाश में मलिनता का, अथवा रज्जु में सर्प तथा शुक्तिका में रजत का भ्रम होने लगता है उसी प्रकार अद्वय आत्मतत्त्व भी अविद्यावशात् जीव प्रतीत होने लगता है। जिस प्रकार एक महाकाश उपाधि भेद से अनेक घटाकाशों के रूप में प्रतिभासित होने लगता है उसी प्रकार अविद्या की उपाधि से ब्रह्म अनेक जीवों के रूप में प्रतीत होने लगता है। बन्ध तथा मोक्ष की सत्यता तथा उक्त भेद की पारमार्थिकता का स्रोत श्रुति को मानने वाले शंकर की दृष्टि में "पण्डितापसद" हैं। इसी प्रकार की भ्रान्ति के विचारणार्थ तथा यह समझाने के लिए, कि एक ही कूटस्थ नित्य परमेश्वर स्वयं सिद्ध विशुद्ध विज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व है और यह विज्ञानधातु अविद्यावशात् अनेक रूपों में प्रतीत होता है, उन्होंने शारीरकभाष्य लिखा है[१]।

यद्यपि शंकरोत्तर वेदान्त में भी ईश्वर और जीवसम्बन्धी यह विवाद चलता रहता है। विवरणकार के विचार में अनादि, अनिर्वचनीय सब भूतों की प्रकृति तथा चिन्मात्र में रहने वाली माया में चैतन्य का प्रतिबिम्ब तो ईश्वर कहलाता है और उसी माया के अविद्यारूपी आवरण तथा विक्षेपशक्तिवाले परिच्छिन्न अनन्त प्रदेश में प्रतिबिम्बित होने वाले चेतन जीव[२]। संक्षेपशारीरककार तथा तत्वविवेककार के भी प्रायशः यही विचार हैं[३]। संक्षेपशारीरककार "कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः" इस श्रुति के आधार पर अविद्या में प्रतिबिम्बित चेतन को ईश्वर तथा अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चेतन को जीव कहते हैं[४]। कभी-कभी मायोपहित जीव को ही ईश्वर मान लिया गया है। किन्तु ये सारे विवाद ब्रह्म के अन्तर्यामित्व पर चुप हो जाते हैं तथा "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" सबका महान विश्वास है।

---

१. तेषां सर्वेषामात्मैकत्वसम्यक्दर्शनप्रतिपक्षभूतानां प्रतिबोधायेदं शारीरकमारब्धम्। एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया नैकधा विभाव्यते नान्यो विज्ञानधातुरस्ति। शां० भा० १।३।१९

२. अनादिरनिर्वाच्या भूतप्रकृतिश्चिन्मात्रसम्बन्धिनी माया। तस्यां चित्प्रतिबिम्ब ईश्वरः,तस्या एव परिच्छिन्नानन्तप्रदेशेषु आवरणविक्षेपशक्तिमत्सु अविद्यानिधानेषु चित्प्रतिबिम्बो जीव इति। सि० ले० सं०, पृ० ८२

३. मायाप्रतिबिम्ब ईश्वरः, अविद्याप्रतिबिम्बो जीवः (वही, पृ०८३)

४. अविद्यायां चित्प्रतिबिम्ब ईश्वरः, अन्तःकरणे चित्प्रतिबिम्बो जीवः। (वही, पृ०८५)

लोकायत दर्शनावलम्बी स्पष्ट रूपेण तो किसी ऐसी सार्वभौमिक सत्ता का निर्देश नहीं करते जो विश्व का नियमन करती है, किन्तु "चैतन्य-विशिष्ट शरीर" को आत्मा मानकर ये इस बात की ओर परोक्ष निर्देश कर देते हैं कि 'चैतन्य' नाम की कोई नित्य सत्ता है जो प्रत्येक शरीर में यावज्जीवन विद्यमान रहती है। प्राण से विरहित हो जाने पर शरीर चैतन्य से भी विरहित हो जाता है।

न्याय वैशेषिक के अनुसार जीव अनेक हैं किन्तु परमेश्वर एक होने के कारण ही उसे पुरुषोत्तम कहते हैं। यह पुरुषोत्तम सर्वज्ञ है क्योंकि वह समस्त वस्तुजात का उत्पादक है। जिस प्रकार कुलाल में घड़े के लिए उपयुक्त मिट्टी का ज्ञान तथा उसके निर्माण की इच्छा रहती है उसी प्रकार परमेश्वर को भी समस्त चराचर जगत् के प्रथम उपादानकारणभूत अतिसूक्ष्म परमाणु तक का ज्ञान तथा उसके सृजन की इच्छा रहती है। अतः जिस प्रकार घड़े के निर्माण में प्रयत्नशील कुम्भकार घट का उत्पादक अथवा कर्ता होता है उसी प्रकार परमेश्वर भी जगत् के सृजन में प्रयत्नशील होने के कारण जगत् का कर्ता है। गौतम तथा उन्हीं के आधार पर वात्सायन तो उसे समीहमान पुरुष के फलों का वितरक मानते हैं। पुरुष के प्रयत्न करने पर भी उसके कर्मों का फल उसके अधीन नहीं है, वह तो किसी और के अधीन रहता है। और जिसके अधीन रहता है, वही है ईश्वर[1]।

विशिष्टाद्वैत का ईश्वर भी सर्वेश्वरत्व, सर्वशेषित्व, सर्वकर्माराध्यत्व, सर्वफलप्रदत्व आदि उपाधियों से युक्त है।[2] यद्यपि त्रिविधदुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को ही पुरुषार्थ मानने वाले सांख्याचार्य व्यवहारदशा ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं करते किन्तु सेश्वरवादी वेदान्त तथा योग से उनका विरोध नहीं— **तस्मादभ्युपगमवादप्रौढिवादादिनैव सांख्यस्य व्यावहारिकेश्वरप्रतिषेधपरतया ब्रह्ममीमांसायोगाभ्यां सह न विरोधः।** (सां०प्र०भा०,भू०पृ०५) योगशासन अपने ईश्वर को क्लेश कर्म तथा विपाक से अपरामृष्ट पुरुषविशेष मानता है

---

१. **ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्** (न्या० सू० अ० ४आ० १सू० १९) तथा उस पर भाष्य,

पुरुषो यं समीहमानो नावश्यं समीहाफलं प्राप्नोति तेनानुमीयते पराधीनं पुरुषस्य कर्मफलाराधनमिति, यदधीनं स ईश्वरः।

२. **सर्वेश्वरत्वं सर्वशेषित्वं सर्वकर्माराध्यत्वं सर्वफलप्रदत्वं सर्वाधारत्वं सर्वकार्योत्पादकत्वं स्वज्ञानस्वेतरसमस्तद्रव्यशरीरत्वम् इत्यादीनि ईश्वरलक्षणानि॥** (य० म० दी०, पृ० १२२)

तथा उसमें सर्वज्ञता के निरतिशय बीज देखता है।[1]

जैन शासनावलम्बी भी, यद्यपि, जगत् से भिन्न ईश्वर नाम की किसी सत्ता में विश्वास नहीं करते, तथापि जगत् के ही कुछ तत्त्व उचित रूप में विकसित होकर सिद्धत्व प्राप्त कर लेते हैं जो अर्हत् कहलाते हैं जो परमेश्वर तथा सर्वज्ञात्मा होते हैं तथा जो सभी प्रकार के सांसारिक दोषों से विनिर्मुक्त हुए होते हैं। यद्यपि कोई दैवी सृष्टिकर्ता नहीं किन्तु प्रत्येक आत्मा अपनी चरम-पूर्णता पर पहुँचकर परमात्मा हो जाती है। ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में सुषुप्तरूपेण विद्यमान शक्तियों का परम, सुन्दरतम तथा पूर्णतम अभिव्यक्तीकरण है।

अनीश्वरवादी बौद्ध भी भगवान् तथागत को अपना दुःखमुक्त स्वामी मानते ही हैं। ये ही इस "निसत्व" अथवा "निज्जीव" विश्व को एक अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में उद्घोषित करते हैं

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रायशः सभी दार्शनिक धाराएँ किसी न किसी रूप में एक ऐसी सत्ता स्वीकार करती हैं जिसके द्वारा इस विश्व की सृष्टि का नियमन अथवा नियन्त्रण होता रहता है। काश्मीर त्रिकदर्शन भी एक इसी प्रकार की चरम सत्ता में विश्वास रखता है। मानव-मस्तिष्क के औत्तरकालिक उपज इस स्वतन्त्र शिवाद्वयदर्शन ने हमको जीवन जगत् अथवा जगदाधार सम्बन्धी जो भी मान्यताएँ प्रदान कीं उनसे झलकता है इसका समन्वयवादी दृष्टिकोण। इसके पूर्वाचार्य, वसुगुप्त, सोमानन्द तथा उत्पल और विशेषतया विश्वकोशात्मक विचारक अभिनवगुप्त ने अपने पूर्व प्रचलित तत्त्वचिन्तन सम्बन्धी सभी धाराओं में सम्यक् अवगाहन किया था। साथ ही साथ उनकी (कम से कम अभिनव की) जीवनविषयक अनुभूतियाँ भी अत्यन्त प्रबल थीं। इसी कारण जो भी दृष्टिकोण इन्होंने हमारे समक्ष रखा उसमें चुम्बकवत् प्रभाव है और जिसका अंगीकार करना हमारे लिए अपरिहार्य सा हो जाता है। काश्मीर स्वातन्त्र्यवाद, जिसे आज का विचारक आभासवाद की संज्ञा देता है, उस चरम (पारमर्थिक) सत्ता के दो स्वरूपों में विश्वास करता है– विश्वोत्तीर्ण तथा विश्वमय। इसमें भी इसके समन्वयवादी दृष्टिकोण का ही परिचय मिलता है। इसी की अवान्तर शाखाएँ—तान्त्रिक तथा कौल आत्मतत्त्व को क्रमशः विश्वोत्तीर्ण तथा विश्वमय मानती हैं। (देखिए, **विश्वोत्तीर्णमात्मतत्त्वमिति तान्त्रिकाः। विश्वमयमिति कुलाद्याम्नायनिविष्टाः। विश्वोत्तीर्णं विश्वमयं च इति त्रिकादि दर्शनविदः।**" प्र० हृ० अ० ला०। पृ० ४४) इसी को हम निराकृति तथा सर्वाकृति भी कह सकते हैं।[2] इनमें से उत्तर स्वरूप का विवेचन "प्रकाश-

---

१. देखिए पा० द० स० पा० सू० २४।२५

२. सर्वाकृतिः विश्वमयः निराकृतिः विश्वोत्तीर्णः। (तं० वा० टी०, १।१०५)

विमर्शमय" के रूप में किया जाता है। इस दर्शन की समष्टिवादी (मैकरोकाज्म) धारणा का आधार है–इसकी व्यष्टिवादी (माइकरोकाज्म) धारणा का सम्यक् अधिगमन[1]। अतएव इन दोनों (प्रकाश तथा विमर्श) शब्दों के स्पष्टीकरणार्थ इनकी व्यष्टि सम्बन्धी धारणा पर प्रकाश डालना अत्यन्त आवश्यक है।

इनमें से प्रत्येक शब्द जीवात्मा के एक पक्ष का परिचायक है। प्रकाश को बहुत कुछ दर्पण से समीकृत किया जा सकता है। अपने इस पहलू में यह मानस प्रतिमाओं का अधिष्ठान मात्र है, जो इसी की अपनी वृत्तियाँ होती हैं, जिनका उद्‌भव प्रत्यक्ष के अवसर पर बाह्य पदार्थों तथा स्मृति, कल्पना या स्वप्न के समय पुनरुद्‌भूत संस्कारों के कारण होता है। बाह्य उत्तेजक का प्रभाव मन पर उसी रूप में पड़ता है जिस रूप में एक बाह्य पदार्थ का दर्पण पर, न कि उस रूप में जिस रूप में लाख की मुद्रा पर। समुदितार्थ यह कि लाख की मुद्रा पर उसका उत्तेजक अपनी एक अमिट छाप डाल जाता है जबकि दर्पण पड़े हुए बाह्य पदार्थ के प्रतिबिम्ब से अपनी पृथक् सत्ता एवं शुद्धता में अविकृत रहकर भी उनका अपने से अभिन्नरूप में प्रकाशन करता है। परन्तु दोनों में एक मूल भेद भी है। वह यह कि, मुकुर को प्रतिबिम्ब ग्रहण करने के लिए एक बाह्य प्रकाश की अपेक्षा होती है। निबिड अन्धकार में दर्पण किसी भी पदार्थ को प्रतिबिम्बित नहीं कर सकता, जबकि मन बाह्य प्रकाश से निरपेक्ष होकर प्रतिबिम्ब ग्रहण करता रहता है। वह तो स्वतः प्रकाश है[2]। इस प्रकार प्रकाश रूप होने के कारण वह प्रतिबिम्बों को ग्रहण करता है तथा उनका अभेदात्मना प्रथन करता है।[3] यही पक्ष पारिभाषिकतया प्रकाश कहलाता है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के अनुसार यदि इसे प्रमाणपरक शब्दावली में अभिव्यक्त किया जाय तो मन के संदर्भ में प्रकाश का अभिप्राय होगा विषय की चेतना अर्थात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष।[4]

किन्तु मन केवल प्रतिबिम्ब ग्रहण करने मात्र तक सीमित नहीं रहता

---

१. अ० गु० हि० सं०, पृ० ३२३

२. आदर्शकुक्षौ प्रतिबिम्बकारि सबिम्बकं स्याद्द यदि मानसिद्धम् ।
स्वच्छन्दसंविन्मुकुरान्तराले भावेषु हेत्वन्तरमस्ति नान्यत् ॥
(प० च० ५)

३. अहमेवं प्रकाशात्मा प्रकाशे– ई० प्र० वि० १, पृ० २४३ तथा भा० पृ० २४४

४. H. P. E. W. P--410

प्रत्युत उसकी अपनी प्रतिक्रिया होती है। हम देखते हैं कि दूसरे ही क्षण बाह्य पदार्थ हमारे मनस्पटल पर अपना आकार अंकित कर देता है और हमारे में "इदमिति" : 'यह (बाह्यपदार्थ) है' की बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। यही कहलाता है विचार––चेतना की वह स्थिति जिसमें वह पदार्थ दूसरों से पृथक् कर दिया जाता है और धारणात्मक तत्त्वों से संमिश्र कर दिया जाता है। यही विषय की चेतना और तद्विषयक अपना ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विमर्श है–एक मनःस्पन्द अथवा मनःक्षोभ। वस्तुतः मन की यही सबसे बड़ी विशेषता है। मन के प्रसंग में इतना तोमार बांधने का हमारा अभिप्राय इतना ही है कि दूसरा पक्ष अपनी समग्र शुद्धता में जानता है : यह विभिन्न प्रभावों का निर्णय देने के लिए स्वतन्त्र है : यह इन प्रतिबिम्बों को संस्कारात्मना सुरक्षित रखता है। किसी बात को पुनः जन्म देने के लिए स्मृति-कोष से कुछ भी ग्रहण कर सकता है। कल्पना में विमर्श इन सबका वरन् इनसे भी कहीं अधिक का द्योतक है।

विमर्श के लिए "प्रत्यवमर्श" और "आमर्श" शब्दों का प्रयोग भी कभी-कभी किया गया है। परन्तु वे विमर्श के भाव को सर्वथा नहीं व्यक्त कर पाते।[1] व्यष्टि का यही चेतन पक्ष इसे प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ, किन्तु जड़, दर्पण, मणि स्फटिक आदि से पृथक् करता है। अभिनव ने "प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी" में इस विषय में सविस्तार विचार व्यक्त किये हैं।[2]

इस प्रकार जब त्रिक व्यष्टि के सन्दर्भ में "प्रकाशविमर्शमयता" की बात करता है तो इसका अभिप्राय यह होता है कि यह स्वयंप्रकाश है तथा इसमें पूर्व-संस्कार विद्यमान रहते हैं और यह प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में, अपने तथा दूसरों को समझने में, अपने अन्तस् में स्थित पदार्थों के नियन्त्रण में तथा इसमें समाहित संस्कारों के साथ नवीन मानस-प्रतिमाओं को जन्म देने में समर्थ है।[3]

---

१. देखिए, ई० प्र० १ अ० ५ व०, का आ० १०।१३

२. अथान्येनापि सत्ता घटेन यतोऽवभासस्य प्रतिबिम्बरूपाच्छाया दत्ता, ताम् असौ अवभासो बिभ्रत् घटस्य इति उच्यते, ततश्च अजडः, तर्हि स्फटिकसलिलमुकुरादिः अपि एवं भूत एव स्यात्। अथ तथाभूतमपि आत्मानं तं च घटादिकं स्फटिकादिः न परामृष्टुं समर्थ इति जडः, तथापरामर्शनमेव अजाड्यजीवितम् अन्तर्बहिष्करणस्वातन्त्र्यरूपम्।
(ई० प्र० वि०, १,पृ०२४२)

३. अ० गु० द्वि० सं, पृ० २२५

अब हमें यह देखना है कि इस 'प्रकाशविमर्शमय' का विश्वात्मा के संदर्भ में क्या अभिप्राय होता है। प्रत्यभिज्ञाहृदयकार इसी प्रकाश को एक भित्ति[1] मानते हैं जिस पर विश्व के समस्त भावजात प्रकाशित होते रहते हैं। जिस प्रकार मुकुर में प्रकाशित पदार्थ का आश्रय वही मुकुर है उसी प्रकार परम शिव का प्रकाश भी समस्त आभासों का अधिष्ठान है और उसमें प्रकाशित विश्व तदाकार होते हुए भी तद्व्यतिरिक्त प्रतीत होता है, "प्राक् निर्णीतं विश्वं दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव उन्मीलयति।" अभिनव भी यही कहते हैं।[2] अपने अवास्तविक स्वरूप में यह व्यक्ति के स्वप्निक, कल्पनात्मक तथा यौगिकसाधना सम्बन्धी आदि परिमित आभासों के समकक्ष ही है।[3]

इसका अधिष्ठान जीवात्मा के अधिष्ठान की भाँति, प्रकाश ही है, जो उसी भाँति प्रभावित होता है जिस भाँति व्यक्ति की बुद्धि स्वप्न के समय। जिस प्रकार स्वप्न में रत्न-राशि प्राप्त करने पर कोई सेठ नहीं हो जाता, न ही स्वप्न में साँप के काटने से मृत्यु का ग्रास। वह अनुभूति तो व्यक्ति की बुद्धि को स्वप्न-समकाल ही रहती है। जागरावस्था आते ही वह पूर्ववत् (शुद्ध तथा विकार-रहित) हो जाती है। ठीक उसी प्रकार विश्वात्मा भी आभास-समकाल ही विश्व के नाना कार्य-कलापों का अनुभव करता है। अतः 'प्रकाश' का प्रयोग विश्वात्मा के साथ उसी अर्थ में है जिस अर्थ में जीवात्मा के साथ; क्योंकि दोनों प्रकाशित होते हैं तथा प्रतिबिम्ब ग्रहण करने और अपने में उपरक्त पदार्थ के साथ एकात्मना स्फुरित होने में समर्थ हैं।[4]

किन्तु इन व्यष्टिगत तथा समष्टिगत 'प्रकाशों' को हम सर्वथा समान नहीं कह सकते। अधिष्ठान की दृष्टि से इन दोनों में एक महान् अन्तर भी है। वह

---

१. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति—प्र० हृ० अ० ला० सं० ६, पृ० २५

२. प० सा० का० १२, १३ तथा

अतोऽसौ परमेशानः स्वात्मव्योमन्यनर्गलः।
इयतः सृष्टिसंहाराडम्बरस्य प्रकाशकः॥
निर्मले मुकुरे यद्वत् भान्ति भूमिजलादयः।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः॥ तंत्रा०, २, का० ३, ४

३. इह तावत् स्वप्न-स्मरण-मनोराज्य-संकल्पादिषु नीलाद्याभासवैचित्र्यं बाह्यसमर्थकहेतुव्यतिरेकेणैव निर्भासते इति यद्यपि अस्ति संभवः ....। यत्तु पुनरिदं योगिनाम् इच्छामात्रेण पुरसेनादिनिर्माणं दृष्टम् तत्र उपादानं प्रसिद्धमृत्काष्ठशुक्रशोणितादि वैचित्र्यमयं न संभवत्येव.........ई० प्र० वि०, १ पृ० २२६-२७

४. अ० गु० हि० सं०, पृ० ३२६

यह कि व्यष्टिगत प्रकाश के अधिष्ठान में उपराग केवल आभ्यन्तर कारणों से ही नहीं उत्पन्न होता जैसा कि स्वप्न तथा कल्पना की स्थिति में, वरन् बाह्य कारणों से भी, जैसा कि सविकल्पक प्रत्यक्ष के समय। किन्तु समष्टिगत प्रकाश के विषय में बाह्य कारणों से उपरक्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह तो विश्वात्मा तथा सर्वमय है।

किन्तु, चूँकि, आभासवाद एक व्यवस्थित प्रक्रिया है, अतः इसमें प्रकाशित होने के लिए अन्तःस्थित भावराशि में से कुछ ही की अपेक्षा होती है।

अतः इस प्रक्रिया के पूर्व तीन बातों की आवश्यकता होती है—ज्ञान, इच्छा तथा आनन्द। इन तीनों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। जैसा कि हम देखते हैं कि इच्छा की उत्पत्ति तब तक सम्भव नहीं जब तक कि आनन्द न हो, इस प्रकार इच्छा के बिना ज्ञान सम्भव नहीं और जब तक विषय का ही ज्ञान न हो तब तक कोई व्यवस्थित क्रिया कैसे सम्भव हो सकती है? अतः विमर्श का प्रयोग जब विश्वात्मा के सन्दर्भ में होता है तो इसका अर्थ होता है—वह शक्ति जो क्रमशः आनन्द, इच्छा तथा ज्ञान को जन्म देती है।

महेश्वरानन्द इस विमर्श की दो कोटियाँ निर्धारित करते हैं—(१)शुद्ध विमर्श (२) प्रपंचस्फुरणवैचित्र्यात्म विमर्श। जब विमर्श-क्रिया हृदय-प्रकाश स्वरूप आत्मा में ही स्थित रहती है; तब कहलाती है शुद्ध-विमर्श, तथा जब यही 'मैं हूं' इस प्रकार का 'इदमिति' रूप क्षोभ का अनुभव करने लगती है तो विश्व-विस्तार की अपेक्षा से उसे दूसरी कोटि में रखा जाता है।[१] सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो क्रिया बाह्य भी होती है, आन्तरिक भी। प्रथम विशुद्ध प्रमातृ-परक होती है तथा द्वितीय का बाह्य प्रस्फुटन होता है। अभिनव इन्हीं दोनों को अपने स्तोत्रों में अन्तःसृजन तथा बहिःसृजन की संज्ञा देते हैं।[२] भास्कर भी इसी का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं।[३]

त्रिक सामान्यतः इन्हें अन्तःस्पन्द तथा बहिःस्पन्द के नाम से अभिहित करता है। कविराजजी के शब्दों में प्रकाश तो व्यक्ति के स्वरूप का निर्वचन करता है

---

१. यदा स्वस्मिन् हृदयप्रकाशस्वरूप एव आत्मनि तिष्ठति, तदा विमर्शः शुद्धो विमर्श एव इत्येवं व्यवह्रियते, यदा तु विकल्पोपश्लेषणलक्षण क्षोभमनुभवति, तदा विश्वविस्तारः प्रपंचस्फुरणवैचित्र्यात्मा विमर्श इति। (म० सं० प० टी० पृ० ३४)

२. सृजन्ती बहिर्विश्वमन्तश्च संवित् परादेवताहं परामर्शरूपा। (र० पं० २५)

३. भा० १, पृ० २०१

अतः उसमें विभागों की संभावना नहीं किन्तु क्रिया निरवयव होते हुए भी अवयवों द्वारा विभाज्य हो सकती है।[1]

शैवस्वातन्त्र्यवाद में वस्तु के अस्तित्व का सारूप्य प्रकाश से स्थापित किया जा सकता है। यदि वह वस्तु है तो प्रकाशित अवश्य होगी और यदि वह प्रकाशित नहीं होती तो वस्तु नहीं है। इसी अभिप्राय से इसको आभास की संज्ञा दी जाती है[2]। इस प्रकार हमने देखा कि अस्तित्व-सामर्थ्य ही प्रकाश है। किन्तु वस्तु का सत् होना, अस्तित्व में आना, उसकी यह सत्ता क्या स्वयं अपने में सक्रिय नहीं है? क्या उस वस्तु का हमें वस्तुतया भान नहीं होता? अतः, स्पष्ट है, कि प्रकाश तथा विमर्श एक दूसरे के पूरक हैं। प्रकाश वस्तु का प्राणप्रद धर्म है और यह धर्म होना ही विमर्श है।[3] विमर्श प्रकाश के साथ केवल अपने ऐक्य की ही स्थापना करता हो, ऐसी बात नहीं। वह सृष्टि के 'क्यों ?' की भी व्याख्या करता है। स्वातन्त्र्य विमर्श का वह पहलू है जो उस "क्यों" की व्याख्या करता है। विमर्श सृष्टि स्थिति आदि सभी क्रियाशील स्थितियों में व्यक्त होता है। हम किसी भी वस्तु की प्रकृति में सन्देह करके अपनी अज्ञता का परिचय देते हैं। जलना अग्नि की प्रकृति है उसी प्रकार अन्तःस्थित वस्तुओं का प्रस्फुरण विमर्श की प्रकृति है। स्वप्न तथा कल्पना क्या आत्मा के स्वभाव के अतिरिक्त अन्य किसी से संभव है? प्रकाश शिव की शक्ति को स्थूल क्रिया में प्रकट करता है और विमर्श शक्तिमान् को। **"शक्तिशक्तिमतोरभेदः"** त्रिकनय का प्राण है। इन दोनों शब्दों का प्रयोग अनेक नामों से होता है। उनमें से मुख्य है चित् तथा आनन्द। 'अस्ति' प्रकाश का द्योतन करता है तथा 'भाति' विमर्श का। अतएव आभ्यन्तर तथा बाह्य जगत् 'अस्तिभातिमय' होने के कारण शिवशक्तिमय है।[4] और जगत् का स्रष्टा है—प्रकाशविमर्शमय शिव।[5] उसका सर्जनकार्य मानव के स्वप्न-पदार्थों की भाँति ही भित्ति पर अपनी ही इच्छा से, बिना किसी की सहायता से चलता रहता है।

---

1. Though Prakasa and Vimarsa are identical, it is to be remembered that Prakasa is always partless and continuous while Vimarsa is partless as well as divisible into parts. (H, P. E. W. PP. 417)
२. **आभातमेव बीजादेराभासाद्धेतुवस्तुनः—ई० प्र० १ अ० आ० का० ८**
३. **ज्ञानं विमर्शानुप्राणितं विमर्श एव च क्रियेति। ई० प्र० वि० २, पृ० २१५**
४. **देखिए, मधुसूदनकौल का लेख "शंकर और शंकर की उपासना" कल्याण शिवांक, पृ० २३४।**
५. **प्र० हृ० अं० ला० पृ० २५-६**

जैसा कि अभी अभी कहा गया है स्वातन्त्र्य इसी विमर्श का अपरपर्याय है। यह माहेश्वर की प्रधान शक्ति की परिचायिका है। उस विश्ववपु चरमतत्त्व परमशिव की अन्य शक्तियाँ इसी में अन्तर्भूत हैं।[1] सोमानन्द इसी को उस परमेश्वर की "अनिरुद्ध इच्छा" कहते हैं।[2] इसीलिए इसको "अनन्य निरपेक्ष" कहा गया है।[3] माध्यमिक बौद्ध सारे जगत् को शून्य कहता है "शून्यमिदं यत्किंचित्", क्योंकि उसके सारे पदार्थ अन्यापेक्ष (परतन्त्र) हैं। अतः उनमें अपने स्वभाव, स्वतन्त्रता का अभाव है। शून्य का अर्थ है स्वभाव-रहित होना। इसी कारण उनको प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त की कल्पना करनी पड़ी। "शैवदर्शन" में शक्ति अपने बहिःस्फार के लिए किसी की अपेक्षा नहीं रखती।[4] पाणिनि का कर्ता भी स्वतन्त्र है।[5] परमशिव की शक्ति के स्वातन्त्र्य की धारणा के लिए त्रिक पाणिनि का ऋणी प्रतीत होता है।[6] अभिनव अपने स्तोत्रों में भी 'निजेच्छा प्रसरता" को ही स्वातन्त्र्य मानते हैं।[7] स्वातन्त्र्य की यह धारणा इस बात का स्पष्ट निदर्शन है कि शैवदार्शनिक उसी एक सत्ता का आभास विश्व के विभिन्न रूपों में देखता है। शक्ति और शक्तिमान् के अभेद में गति तथा नानावैचित्र्य दोनों सन्निहित हैं। क्षेमराज तो स्थल-स्थल पर इसी धारणा को दृढ़ करते हुए प्रतीत होते

---

१. चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता ।

स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥१३॥ ई० प्र० वि० अ० ५ आ०
वस्तुतः पुनरपि अहं प्रत्यवमर्शात्मा स्वातन्त्र्यशक्तिरेवास्यास्ति ।
(तंत्रां० टी० १, पृ० १०८)

२. आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निवृतचिद्वपुः ।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्-क्रियः शिवः ॥ शि० दृ० १-२

३. अनन्यनिरपेक्षतेव परमार्थतः आनन्दः, ऐश्वर्यम्, स्वातन्त्र्यम्, चैतन्यम् ।
(ई० प्र० वि० १, २५५)

४. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः प्र० हृ० सू० १

५. स्वतन्त्रः कर्ता १-४-५४

६. अ० गु० द्वि० सं० पृ० ३२७

७. अमुष्मात् संपूर्णात् रसमहोल्लाससरसात्
निजां शक्तिं भेदं गमयसि निजेच्छाप्रसरतः । क्र० स्तो०

हैं। उनके अनुसार विश्व की विभिन्न भूमिकाओं के "प्रच्छादन" तथा "उन्मीलन" के तारतम्य का आधार उसी एक चिदात्मा का स्वातन्त्र्यस्वभाव है।[1]

यह स्वातन्त्र्य उस चिदात्मा का अनिवार्य स्वभाव है। यही उसका ऐश्वर्य है जिसके कारण वह ईश्वर पद से अभिहित किया जाता है। उसे आनन्द शब्द से भी अभिहित किया जाता है। मानव भी तो स्वतन्त्रता का कितना इच्छुक है। हमें अपने कार्यों में यदि दूसरे की सहायता की आवश्यकता न पड़े तो हमारी बाहें कितनी खिल उठती हैं। हम विभोर हो उठते हैं। सृष्टि तथा स्थिति का यह विनोद वह स्वान्तःसुखाय करता है और इस महान् कृत्य में उसे किसी के साहाय्य की अपेक्षा नहीं होती इससे बढ़कर आनन्द तथा स्वतन्त्रता और क्या हो सकती है? स्वातन्त्र्य तथा विमर्श, यों तो सदैव समानार्थक हैं, किन्तु फिर भी उनमें ईषत् भेद देखा जा सकता है। स्वातन्त्र्य विशेषतया 'इदम्' से सम्बन्ध रखता है जबकि विमर्श का सम्बन्ध उससे आगे बढ़कर 'अहम्' की विशुद्ध अवस्था से है। स्वातन्त्र्य की कोई मिति नहीं। अपनी इसी व्यापकता के कारण वह परमेश्वर की सभी शक्तियों की एक पुंजीभूत भूमि है। उसकी इसी व्यापकता के कारण विभिन्न प्रयोजनों को लेकर इसके विभिन्न नाम दिये गये हैं।

अभिनव अपने स्तोत्रों में उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं। वे उसे 'चमत्कृति' कहते हैं।[2] चमत्कृति का अर्थ है आत्मचर्वणा अथवा आत्मपरामर्श। वे उसे 'स्फुरता' की संज्ञा से भी सम्बोधित करते हैं।[3] इसी स्फुरता से यह भाव-जगत् स्फुरित होता है तथा वह देश तथा काल की परिधि से परे है।

समस्तशक्तिखचितं ब्रह्म सर्वेश्वरं तदा।
ययैवशक्त्या स्फुरति प्राप्तां तामेव पश्यति।
(भीखनलाल आत्रेय द्वारा उद्धृत, कल्याण शिवाङ्क, पृ० ४८९)

---

१. श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्णविश्वात्मकपरमानन्दमय-प्रकाशैकघनस्य एवंविधमेव शिवादिधरण्यन्तमखिलं अभेदेनैव स्फुरति। न तु वस्तुतः अन्यत् किंचित् ग्राह्यं ग्राहकं वा। अपितु श्रीपरमशिव-भट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरतीति अभिहितप्रायम्।
(प्र० हृ० अ० ला०, पृ० २८, ४४।४५)

२. विश्वस्वभावपटले परिजृम्भमाणविच्छेदशून्यपरमार्थचमत्कृतिर्या
(अ० स्तोत्र)

३. ध्यायेयं तां त्वां कथं स्वस्फुरत्ताम्, र० पं० ८

क्षेमराज की 'चिति' भी ऐसी ही है,

चितिरित्येकवचनं देशकालाद्यनवच्छिन्नतामभिदधत्
समस्तभेदवादानामवास्तवतां व्यनक्ति ॥

(प्र० हृ० अ० ला० सं० २४–५)

इसे 'बोध' की आख्या भी दी गयी है।[1] उसकी 'स्पन्द' संज्ञा भी है, क्योंकि यह अचल चित्प्रकाश गतिशील सा प्रतीत होता है।[2] यह स्पन्द द्विविध होता है— अन्तःस्पन्द और बहिःस्पन्द।

योगवासिष्ठकार भी यही कहते हैं—

"अनन्यां तस्य तां विद्धि स्पन्दशक्तिं मनोमयीम्।
स्पन्दशक्तिस्तदेच्छेयम् दृश्याभासं तनोति सः ॥"[3]

इसी को अभिनव "रहस्य पंचदशिका" में 'अन्तर्नदन्ती वाक्' कहते हैं।[4] ध्यान रहे कि यह "अन्तर्नदन्ती वाक्" स्वरसोदिता परावाक् से भिन्न नहीं है। शिवसूत्रों में उसी को "चैतन्य" कहा गया है; अभिनव भी यही कहते हैं।[5]

इस स्वातन्त्र्य अथवा विमर्श की धारणा को बल देने का लक्ष्य, ऐसा प्रतीत होता है, इस दर्शन की वेदान्त से विलक्षणता बताना रहा है। क्षेमराज कहते हैं **"स्वतन्त्रशब्दो ब्रह्मवादात् वैलक्षण्यमाचक्षाणः···ब्रूते।"**

(प्र० हृ० अ० ला० सं०, पृ० २५)

इस प्रकार सूत्र में "स्वतन्त्र" शब्द के औचित्यनिर्देश-प्रसंग में उन्होंने इस दर्शन के लक्ष्य की ओर भी संकेत कर दिया। वेदान्तियों का ब्रह्म शुद्धबुद्धमुक्त-स्वभाव तथा प्रकाशैकघन होते हुए भी निर्विमर्श है, जबकि शैवों का शिव स्वातन्त्र्य-मूलक है, सविमर्श है। चेतना उसकी सक्रियता की द्योतक है। यही दोनों में भेद है। कविराज जी ने अपने एक लेख में शैव तथा त्रिपुरा दर्शन की मान्यता पर विचार करते हुए इसके साम्य की ओर भी निर्देश किया है।[6]

---

१. तदन्तस्त्वद्बोधप्रसरसरणी भूतमर्हसि, क्र० स्तो० ४

२. स्पन्दनं च किंचिच्चलनं, एषैव च किंचिद्रूपता यत् अचलमपि चलमिव भासते इति। (ई० प्र० वि० पृ० २५६)

३. डा० भीखनलाल आत्रेय द्वारा उद्धृत क०शि०पृ० ४८६

४. ध्यायेयं तां त्वां कथं स्वस्फुरत्तां ध्यायेयं तां त्वां वाचमन्तर्नदन्तीम्। (ई० पं० ८)

५. आत्मात एव चैतन्यचित्क्रिया चितिकर्तृता।

६. क० शि० पृ० ८८–८९

इस प्रकार आप देखते हैं कि शैव स्वातन्त्र्यवाद के अनुसार परम सत्ता स्वातन्त्र्यस्वभाव के कारण सब कुछ अपने में तथा अपने द्वारा अभिव्यक्त करती रहती है। वह इस विश्व का निमित्तकारण (Causa Effeciens) भी है और समवायिकारण (Causa Materialis) भी। विश्व की प्रक्रिया में उसी की इच्छा प्रधान (Primum Datum) है। उसकी यही माहेश्वरता हमारी जगत्विषयक सभी अनुभूतियों की जननी है। चाहे वे अनुभूतियाँ विभिन्नता में एकता सम्बन्धी हों, एकता में भेदसम्बन्धी अथवा विषयपरक अथवा प्रमातृपरक। इससे यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि शैवदर्शन के प्रत्येक भावजात सत् है जब कि वेदान्त में ब्रह्म को छोड़कर और सब कुछ मिथ्या है। यह इस बात का भी स्पष्टीकरण कर देता है कि वस्तुवाद (Realism), प्रत्ययवाद (Idealism) तथा स्वातन्त्र्यवाद (Voluntarism) यहाँ अपने सारे विरोधों का परित्याग कर एकरूपता को प्राप्त होते हैं। अभिप्राय यह कि स्वातन्त्र्यवाद, वस्तुवाद तथा प्रत्ययवाद में सामंजस्य स्थापित कर देता है।[1] चूँकि शांकर वेदान्त पारमार्थिक सत्ता की विमर्शमयता (स्वातन्त्र्य) का विरोधी है, अतः यहाँ वस्तुवाद तथा प्रत्ययवाद का भेद बना ही रहता है। वस्तु व्यावहारिकदृशा सत् हो भी सकती है किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से तो वह मिथ्या है। शैव दर्शन तो सत् को ही वस्तु का नियामक मानता है।

पाश्चात्य तत्त्वचिन्तन के क्षेत्र में शापेनहार की ही दार्शनिक मान्यताएँ कुछ ऐसी हैं जिनमें हम स्वातन्त्र्यवाद के साथ साम्य के दर्शन करते हैं।[2] शैव स्वातन्त्र्यवाद शोपेनहार के स्वातन्त्र्यवाद से कुछ बातों में तो पूर्णतया मतैक्य रखता है।

उदाहरणार्थ—

१. व्यावहारिक अनुभव द्वारा जो कुछ हमें ज्ञात होता है वह केवल दृश्यमान मात्र है, क्योंकि इस बात में वह कांट का अनुयायी है कि व्यावहारिक स्तर पर हमको वस्तु का उसके स्वरूप में अथवा उसके अस्तित्व समग्रता को में बोध नहीं होता प्रत्युत काल देश आदि उपाधियों से छनकर प्रतीयमान रूप में।

२. स्वरूपगत वस्तु, जिसकी हमें अपनी ऐच्छिक क्रियाओं तथा संवेग आदि की क्रियाओं में अपरोक्षतः प्रतीत होती है, इच्छा है, क्योंकि इसकी मान्यता है

---

१. **इसी कारण डा० पाण्डेय इसे** Realistic Idealism **कहते हैं।**

२. **भास्करी २ भूमिका पृ०** XVII,

कि तीव्र संवेग की स्थिति में, मन के सभी बाह्य प्रभावों के दूर हो जाने के कारण स्वातन्त्र्य-अव्यवहित रूप से उपस्थित रहती है।

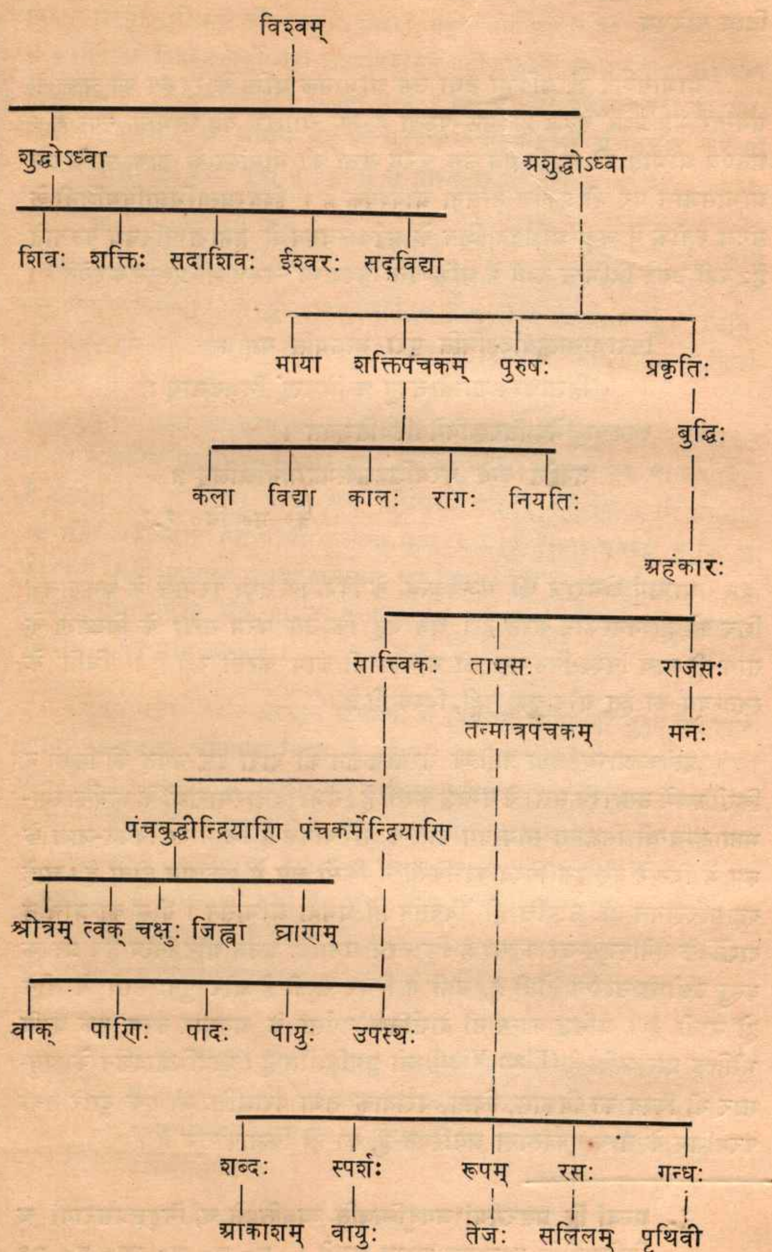
३. भौतिक क्रिया और समग्र भौतिक शरीर इच्छा का ही विषयीकरण है, क्योंकि इसके अनुसार "क्रिया अन्तरीभूत इच्छा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं।"

४. इच्छा प्रत्येक वस्तु का आन्तरिक स्वभाव है और जगत् के प्रत्येक क्षेत्र का सार है।

५. दार्शनिक प्रज्ञा का अर्थ चिन्तनात्मक और अमूर्त चेतना में सत्य—"शब्द ही मेरा विचार है" का उद्बोध मात्र है। शैवदर्शन भी जीवन्मुक्ति में विश्वास रखता है और मुक्ति है, "**सर्वो ममायं विभवः**" की अनुभूति।

किन्तु शापेनहार के "स्वातन्त्र्यवाद" से इसका वहाँ भेद हो जाता है जहाँ, वह इच्छा को अचेतन मानता है। उसके अनुसार इच्छा चेतना से पृथक् केवल मानसिक क्रिया मात्र है तथा प्रकृति से अभिन्न है, जो उसके अनुसार, चेतना से स्वतन्त्र होकर कार्य करती है। उसके लिए इस प्रकार का विभेद करना प्रायशः अनिवार्य हो गया था, क्योंकि विभिन्न विज्ञानों की पूर्व-धारणाओं का वह ऐसी वस्तु से अभेद स्थापित करना चाहता था जिनका व्यावहारिक स्तर पर प्रत्यक्ष बोध उसे सम्भव था तथा उसने कांट की इस बात को अंगीकार किया कि विषय से पूर्णतया भिन्न रूप में प्रमाता (अहं) की चेतना असम्भव है तथा उसकी मान्यताएँ हेगेल की मान्यताओं के विरोध की प्रतिफलन थीं।

इसके विपरीत काश्मीर शिवाद्वयवाद, उन सिद्ध पुरुषों की छत्रच्छाया में पल्लवित हुआ जो विषय से पूर्णतया भिन्न "अहं चेतना" अथवा "अहं बोध" को एक असंदिग्ध अनुभव समझते थे। अतः वे इच्छा को चेतना से पृथक् करने के लिए बाध्य न थे। अतः सामान्य अनुभूति में जहाँ इच्छा मन की एक वृत्ति है, अन्तिम अनुभूति में वही चिदाकार है।


विश्वम्
शुद्धोऽध्वा
अशुद्धोऽध्वा
शिवः शक्तिः सदाशिवः ईश्वरः सद्विद्या
माया शक्तिपंचकम् पुरुषः प्रकृतिः
बुद्धिः
कला विद्या कालः रागः नियतिः
अहंकारः
सात्त्विकः तामसः राजसः
तन्मात्रपंचकम् मनः
पंचबुद्धीन्द्रियाणि पंचकर्मेन्द्रियाणि
श्रोत्रम् त्वक् चक्षुः जिह्वा घ्राणम्
वाक् पाणिः पादः पायुः उपस्थः
शब्दः स्पर्शः रूपम् रसः गन्धः
आकाशम् वायुः तेजः सलिलम् पृथिवी

विश्व परिचय

आभासवाद की प्रक्रिया तथा उस आभासक शक्ति के स्वरूप की चर्चा के अनन्तर यह प्रश्न सहज ही उठ पड़ता है कि आखिर वह आभास क्या है ? अतएव आभास की कारणभूत उस चरम सत्ता की मीमांसा के साथ उसके इस आभासजाल पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी के मंगल श्लोक में जहाँ अभिनव शिव के अद्वैत स्वरूप से हमारा परिचय करवाते हैं; वहीं उसके विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त विश्व का स्वरूप भी प्रस्तुत कर देते हैं।

निराभासात्पूर्णादहमिति पुरा भासयति यत् ।
द्विशाखामाशास्ते तदनु च विभक्तुं निजकलाम् ॥
स्वरूपादुन्मेषप्रसरणनिमेषस्थितिजुषस् ।
तदद्वैतं वन्दे परमशिवशक्त्यात्मनिखिलम् ॥
ई० प्र० वि० १.१

आचार्य क्षेमराज भी 'पञ्चकृत्य' के विधायक तथा परमार्थ के अवभासक शिव को ही नमस्कार करते हैं। अर्थ यह कि उस परम सत्ता के निरूपण के साथ ही साथ विश्व-निरूपण की भावना भी काम करती रही है। 'चिति' के स्वतन्त्र्य का हेतु और कुछ नहीं, विश्व ही है।

प्रत्येक प्राच्य तथा प्रतीच्य तत्त्वचिन्तन की धारा इस जगत् को किसी न किसी रूपमें उस परम सत्ता से सम्बद्ध करती है। सभी विचारधाराओं के कार्यकारण-भाव सम्बन्धी सिद्धान्त स्वयं इस बात के परिचायक हैं कि नाना विषय-जाल के रूप में बिखरे हुए इस विश्व का किसी न किसी रूप में प्रकाशन होता है। चाहे वह परिणमन हो, उत्पत्ति हो, विवर्तन हो अथवा आभासन। ग्रीस का प्राचीन दार्शनिक एनेक्जिमेन्डर कहता है कि तत्त्व अनादि, अनंत और नित्य है। प्रत्येक वस्तु उसी से उत्पन्न होती है, उसी में स्थिर रहती है और पुनः उसी में लीन हो जाती है। प्रसिद्ध फ्रान्सीसी दार्शनिक वर्गसां के अनुसार तत्त्व एक आदि भौतिक प्राणशक्ति है (Elan Vital) जो प्रगतिशील है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार भी विश्व का विकास, चिति, परावाक् तथा पराशक्ति जो एक दूसरे तथा परमशिव के साथ एकात्मना अवस्थित हैं, का ही क्रियाकौतुक है।[1]

---

१. अस्यां हि प्रसरन्त्यां जगदुन्मिषति व्यवतिष्ठते च, निवृत्तप्रसरायां च निमिषतीति स्वानुभव एवात्र साक्षी। प्र० हृ० अ० ला० पृ० २१

इसी बात को वर्गसां अपनी भाषा में कहता है कि "जब हम कहते हैं कि विश्व परिवर्तनशील है तो वस्तुतः हमारा यह कथन वाणी का आडम्बर मात्र है क्योंकि कोई वस्तु ऐसी नहीं जो परिवर्तित नहीं होती है, केवल अनन्त परिवर्तन विद्यमान है। अनुभूति द्वारा ही हम प्रायः शक्ति की इस अजस्र धारा का अनुभव कर सकते हैं।" आशय यह कि यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो प्रत्येक दार्शनिक धारा कुछ मूल बातों में साम्य रखती है।

चिति अपने इस विकास का साधन बनाती है "तत्त्व" को। **"तस्य भावः तत्त्वम्"** (ई०प्र०वि० २,२१६) के अनुसार तत्त्व का अर्थ है उसके होने का भाव। "तत्त्वों" की इस धारणा के लिए त्रिक सांख्य का ऋणी है। "चिति" ही अपने को ३६ तत्त्वों में विभक्त कर लेती है, जो एक ऐसा नियामक निर्धारित करते हैं जिससे सर्वोत्कृष्ट तथा शुद्धतम अवस्था से लेकर अत्यन्त निम्न तथा स्थूल पदार्थों का बोध हो जाता है। इन तत्त्वों के विभाजन का आधार न तो वैज्ञानिक पर्यवेक्षण है और न हेतुक अनुमान। इसका एक मात्र आधार है आगमवाक्य।[1] किन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि इसमें अनुभूति का योग नहीं और यह थोथी कल्पना मात्र है। हाँ, इतना अवश्य है कि यह सामान्य प्रत्यक्षानुभूति अथवा अनुमान का विषय नहीं। सच पूछिए, तो यह, अंशतः, दीर्घकालीन योग-साधना तथा अंशतः मस्तिष्क और जगत् के सम्यक् निरीक्षण का प्रतिफलन है।[2]

(इन तत्त्वों का यथास्थान टिप्पणी में विवेचन किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त हमारा प्रतिपाद्य विश्व के स्वरूप का निरूपण है न कि तत्त्वों का। अतः विश्व के सन्दर्भ में इनका यहाँ संक्षिप्त परिचय देना ही हमारा अभिप्रेत होगा।) इन छत्तीस तत्त्वों में से ईषत् परिवर्तन के साथ २५ तत्त्व तो सांख्य से लिये गये हैं, माया-तत्त्व वेदान्त से लिया गया है। और इसी के आधार पर पंचकंचुकों की सृष्टि की गयी है। शुद्धेतराध्व के उपरान्त शुद्धाध्व की कल्पना उसकी मौलिक कल्पना है। प्रत्याभिज्ञादर्शन की यह शुद्धाध्व-धारणा शैवसिद्धान्त को भी मान्य है किन्तु उसका शुद्धाध्व स्वतन्त्र न होकर आश्रित है। साथ ही साथ

---

१. न हि प्रत्यक्षं माया प्रमातुः सर्वत्र क्रमते। अनुमानमप्येवम् न हि यद्यदस्ति तत्र तत्र लिंगव्याप्त्यादिग्रहणसंभवः। आगमस्त्वपरिच्छिन्न-प्रकाशात्मकमाहेश्वर्यविमर्शपरमार्थः किं न पश्येत्, इति तदनुसारेण पदार्थनिर्णयः। ई०प्र०वि० २, पृ० २१३।

२. अ० गु० हि० सं०, पृ० ३५२

उपादानतया भी इसका विभेद है। शैवदर्शन की यह अवधारणा उसको विश्व-दर्शन की कोटि तक पहुँचा देती है।

शुद्धाध्व के तत्त्वों का क्रम निम्नांकित है :

१. शिव : चित् शक्ति का प्राधान्य।

२. शक्ति : आनन्दशक्ति का प्राधान्य।

३. सदाशिव : इच्छाशक्ति का प्राधान्य 'अहमिदम्' भाव।

४. ईश्वर : ज्ञानशक्ति का प्राधान्य 'इदमहम्' भाव।

५. सद्विद्या : क्रियाशक्ति का प्राधान्य—समधृतपुटतुलान्यायेन 'अहम् इदम्' की समतुल्यता।

ये पांचों तत्त्व प्रमातृगत हैं और शक्ति के विभिन्न पक्षों के उन्मेषवशात् सम्भव होते हैं।

शुद्धेतराध्व के तत्त्व

६. माया : प्रमातृस्वरूप की आवश्यक तथा अपने आगे के सारे तत्त्वों की कारण।

७–११. पञ्चकञ्चुक : कला, विद्या, राग, काल तथा नियति।

१२. पुरुष (जीवावस्था) : सांख्य के पुरुष से भिन्न। सांख्य के अनुसार तो असंख्य पुरुष स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं किन्तु त्रिक के अनुसार वे परमात्मा के ही विभिन्न आभास हैं। इसके अतिरिक्त त्रिक का पुरुष "पुष्करपलाशवत् निर्लेप चेतन" नहीं है। यह चेतन तो है किन्तु परिस्थितियों से सर्वथा अप्रभावित नहीं रहता।

१३. प्रकृति : समस्त कार्य तथा कारणों की कारण। सांख्य की प्रकृति (प्रधान) से त्रिक की प्रकृति दो बातों में भिन्न है :

(१) सांख्यदृशा यह अनेक कार्यों के लिए स्वतन्त्र है, जबकि त्रिक के अनुसार यह कार्य तभी करती है जब अनन्त द्वारा प्रेरित की जाती है।

(२) सांख्य एक प्रधान मानता है, त्रिक अनेकों।

करण : दो

१४–१६. अन्तःकरण (३)

(अ) मन : संकल्पादि का कारण

(ग्रा) बुद्धि : ग्रध्यवसायात्मिका

(इ) ग्रहंकार : ग्राह्यग्राहकाभिमान रूप

१७–२६. बाह्य करण (१०)

(ग्र) पंच बुद्धीन्द्रिय—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, तथा घ्राण।

(ग्रा) पंच कर्मेन्द्रिय—पाणि, पाद, पायु, वाक् तथा उपस्थ।

पंच महाभूत—(स्थूलकार्य)

२७–३१. पृथिवी, ग्रप्, तेज, वायु तथा नभ।

पंच महाभूत (सूक्ष्मकार्य)

३२-३६. गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द। इस शुद्धेतर ग्रवस्था में ग्राह्यग्राहक भाव स्फुट हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये तत्त्व ग्रौर कुछ भी नहीं ग्रपितु उसी परमात्मा के इच्छा-जन्य ग्राभास हैं ग्रौर इस प्रकार ग्रपने ग्राभासक से व्यतिरिक्त भी नहीं है। इसी कारण वे सभी शेष हैं क्योंकि वे किसी-न-किसी तत्त्व के समवेत-स्वरूप हैं। समवेतस्वरूप कहने का ग्रभिप्राय यह कि एक तत्त्वका सम्बन्ध किसी-न किसी दूसरे तत्त्व से ग्रवश्य होता है ग्रौर वह तत्त्व उसका प्रमुख उपादान होता है। एक घट को हम मृत्तिका पात्र केवल इसलिए नहीं कहते कि वह मिट्टी का बना हुग्रा है वरन् इसलिए कि मृत्तिका उसकी प्रधान उपकरण है।

यह विश्व भगवती चिति की इच्छा का ही प्रतिफलन है, यह हम ग्रनेक बार कह चुके हैं। वह इस नाना उपकरणमय विश्व का ग्रपनी इच्छा से तथा ग्रपनी ही भित्ति पर उन्मीलन करती है।[1] कल्पना कीजिए उस समय की जब ग्राप ग्रपने बाल्यकाल में किसी बाजीगर का खेल देख रहे थे। वह बाजीगर ग्रपनी झोली से नाना प्रकार के उपकरण निकाल कर प्रेक्षकों के सामने रखता जाता है ग्रौर ग्रपनी बाँसुरी ग्रथवा डमरू के स्वर द्वारा सबको मोहित कर लेता है। सभी लोग उस प्रसारित उपकरण-जाल को देख कर भूल जाते हैं कि यह उसी के हाथ का कौशल है। यह चेत उनको तब होता है जब वह उस सबको उसी झोली में फिर भर लेता है। इसी प्रकार यह चिति भगवती भी इस विश्व के सर्जन एवं संहार का खेल किया करती है; ग्रौर मूढ मानव ग्रज्ञानवशात् उसको उनसे भिन्न समझ लेता है। उस बाजीगर की सृष्टि तथा इस चिति की सृष्टि में ईषत् ग्रन्तर ग्रवश्य है। वह यह कि बाजीगर के उपकरण उसकी कला की सृष्टि

१. **स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति** प्र० हृ० सू० २

अवश्य होते हैं किन्तु वह उससे अव्यतिरिक्त नहीं होते ; किन्तु यहाँ तो उपकरण, उपकरण का प्रदर्शक तथा उसकी कला सभी एक होते हैं।

उसके इस अभिनवार्थ प्रकाशन रूप विश्व की सिद्धि में किसी प्रमाण की भी अपेक्षा नहीं है।[1] इसीलिए त्रिकसार इसको बैन्दवीकला[2] कहता है। विश्व का अर्थ डा० सूर्य नारायण ने (इसी ग्रन्थ की टि० २५ में) तथा आयंगर महोदय ने भी अपनी शिवसूत्रविमर्शिनी के अनुवाद में इसी उद्धरण के सन्दर्भ में 'प्रकाश की किरण' किया है ; जो कला के साथ मिल कर चिति की स्वतन्त्र इच्छा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। अपनी इच्छा तथा अपनी ही भित्ति पर कहने के दो अभिप्राय हैं। एक तो यह कि इस प्रकार परमशिव के प्रकाशविमर्शमयस्वभाव की सिद्धि हो जाती हैं। वह वेदान्तियों के ब्रह्म की भाँति केवल प्रकाशमयता से ही युक्त नहीं अपितु उसमें क्रियाशक्ति भी विद्यमान है। इसके अतिरिक्त उसको अपने इस प्रकाशन में किसी उपादान की भी आवश्यकता नहीं पड़ती; क्योंकि यह तो उपादानकारण तथा निमित्तकारण दोनों है। इस प्रकार उसी के रूप में प्रस्फुटित विश्व मुकुर में नगर की भाँति उससे अभिन्न होते हुए भी भिन्न की भाँति प्रतीत होता है।[3] वह उन्मीलन अथवा प्रकाशन भी और कुछ नहीं अपितु पूर्व अवस्थित का ही प्रकाशन है।

अब प्रश्न यह होता है कि यह एक है तो नाना रूपों में प्रतीत कैसे होता है ? इसके लिए त्रिक का उत्तर होगा, परस्पर अनुरूप प्रमाता तथा प्रमेय के के भेद से विश्व विभिन्न रूपों में प्रतीत होता है।[4] जिस प्रकार मलरहित स्फटिक मणि समीपस्थ नीलापीतादि पदार्थों के वर्ण से उपहित होकर नाना रूपों में प्रतीत होने लगता है उसी प्रकार, ठीक उसी प्रकार परमेश्वर भी एक होते हुए भी विविध सुर, मनुष्य, पशु, पादप आदि पदार्थों से युक्त होकर नाना

---

१. ततोऽस्याः स्वतन्त्रापरिच्छिन्नस्वप्रकाशरूपायाः प्रमाणवराक-मुपयुक्तमुपपन्नं वा। प्र० हृ० अ० ला०, पृ० २२-२३

२. स्वपदा स्वशिरच्छायां यद्वल्लङ्घितुमीहते।
पादोद्देशे शिरो न स्यात् तथेयं बैन्दवी कला।
प्र० हृ० में वहीं पर उद्धृत

३. प्राक्निर्णीतं विश्वं दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव उन्मीलयति। वही पृ० २६

४. तन्नाना अनुरूपग्राह्यग्राहक भेदात्। वही सू० ३

रूपों में प्रकट होता है ।[1] । इस विविध वैचित्र्य से युक्त होने पर भी इसके स्वरूप में किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचती । नील लाक्षा आदि उपाधियों से युक्त होने पर भी जिस प्रकार हम स्फटिकमणि को स्फटिक मणि ही कहते हैं न कि लाक्षादि, उसी प्रकार नाना ग्राह्यग्राहकों से उपहित होने पर भी उस परमेश्वर के स्वरूप को कोई हानि नहीं पहुँचती ।[2] वे ग्राह्य तथा ग्राहक क्या हैं तथा उनकी अनुरूपता का क्या अभिप्राय है, इसी का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य क्षेमराज कहते हैं, सदाशिव तत्त्व में जिस प्रकार, अहन्ता के प्राधान्य से युक्त स्फुट इदन्तामय (अहमिदम्) विश्व प्रमेय उसका ग्राह्य है उसी के अनुरूप मन्त्रमहेश्वर नामक प्रमातृवर्ग है तथा श्रीसदाशिव भट्टारक उसके अधिष्ठातृ देव हैं, ईश्वर तत्त्व में इदमहम् के स्फुटसामान्याधिकरण से युक्त विश्व ग्राह्य है और मंत्रेश्वरवर्ग उसके प्रमातृवर्ग हैं जिनके अधिष्ठातृ देवता हैं ईश्वर भट्टारक । इसी प्रकार मन्त्र विज्ञानाकल, प्रलयाकल तथा सकल प्रमाताओं के अनुरूप प्रमेय की व्यवस्था है ;[3] और इस प्रकार का संव्यूहन परमेश्वर की इच्छा पर ही आधारित है । इस प्रकार शिव से लेकर धरणी पर्यन्त तत्त्वों का स्फुरण श्रीमान् परमशिव से अभिन्नरूप में हुआ करता है ।[4] वस्तुतः यह ग्राह्य-ग्राहक संवित्ति परम शिव भट्टारक का विविध रूपेण अपने स्वरूप का प्रथन ही है । किन्तु उक्त संवित्ति का वास्तविक ज्ञान सबको नहीं हो पाता। सामान्य लोग तो इस जगत को उसी रूपमें समझते हैं जिस रूप में वह दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार की संवित्ति का सौभाग्य तो कुछ बिरले ही लोगों को होता है ; और वे होते हैं उसी अभेदात्मक संवित्ति के लिए अपने शरीर को तपाने वाले सिद्धजन ।[5]

इस तादात्म्य का इससे बढ़कर उदाहरण और क्या हो सकता है कि अपनी चितिशक्ति के संकुचित हो जाने पर परमेश्वर भी संकुचित होकर अनन्त विश्व के रूप में अपने स्वरूप का प्रथन करते हैं ठीक उसी प्रकार जैसे कि वट बीज

---

१. नानाविधवर्णानां रूपं धत्ते यथाऽमलः स्फटिकः सुरमानुषपशुपादपरूपत्वं तद्वदीशोऽपि । (प० सा० ६)

२. देखिए उक्त का० पर योगराज की विवृति पृ० १८–९

३. प्र० हृ० अ० ला०, पृ० २७–९

४. श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्णविश्वात्मक······शिवादिधरण्यन्तमखिलं अभेदेनैव स्फुरति । (वही पृ० २९)

५. ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम् ।
योगिनां तु विशेषेऽयं सम्बन्धे सावधानता ।।
(विज्ञान भट्टारक वहीं पृ० २४ पर उद्घृत)

अपने को अशेष शाखाओं तथा पल्लवों के रूप में व्यक्त करता है।[१] किन्तु ऐसा करने से बीज के वास्तविक स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह वट बीज ही रहता है। उसी प्रकार परमेश्वर नाना रूपों में अपने को व्यक्त करके भी अपने स्वरूप को नहीं खोता। त्रिशिरोमत भी उसकी इसी व्यापकता का समर्थक है।[२] पर ऐसा होता क्यों है? उसकी विमोहिनी माया शक्ति के कारण। उसकी माया शक्ति उसके वास्तविक स्वरूप का तिरोभाव करके उसके स्वरूप को संकुचित बना देती है। इसी माया के आवरण के कारण वह भी अपने को अनेकों रूपों में देखता है।[३] अतः यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि त्रिक के अनुसार माया शक्ति द्वारा ही इस विश्व का विकास सम्भव होता है। विश्व का यह संकोच भी वस्तुतः और कुछ नहीं। चूंकि चित्त के ऐक्य के साथ उसकी भी अभिव्यक्ति होती है अतः यह भी चिन्मय है। इस प्रकार प्रत्येक ग्राह्य तथा ग्राहक विश्ववपु शिवभट्टारक से भिन्न नहीं। इसके लिए क्षेमराज बड़ी अनूठी उक्ति प्रस्तुत करते हैं। रेखा ज्ञान का एक सूत्र है जिसके अनुसार सम वस्तुओं से यदि सम वस्तु निकाल दी जाय तो तो शेष भी सम ही रहता है। उसी प्रकार क्षेमराज कहते हैं कि यदि 'ख्याति' 'अख्याति' के रूप में न परिणत हो तब भी ख्याति ही रहती है और जब ख्याति रहती है तब तो वह ख्याति ही है।[४] इसी बात को स्पन्द भी "**यस्मात् सर्वमयो जीवः**………"तथा "**तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न यः शिवः**" आदि द्वारा स्पष्ट करता है।

विश्व-विकास-प्रक्रिया में प्रत्यभिज्ञा दर्शन कुलनय के परावाक् सम्बन्धी सिद्धान्त को भी स्वीकार करता है। परावाक् जो इस विकास की प्रक्रिया में अनेक दशाओं से होकर गुजरती है, संस्कृत वर्णमाला के ५० वर्गों में विभक्त की जाती है। इन्हीं वर्गों में शिव तथा शक्ति के अविच्छिन्न सम्बन्ध की कल्पना की जाती है, "**अकारः शिव इत्युक्तस्थकारः शक्तिरुच्यते।**[५]" और वही अनन्त विश्व के

---

१. प्र० हृ० अ० ला० पृ० ३१

२. **त्रिशिरोभैरवः साक्षाद्व्याप्य विश्वं व्यवस्थितः।**
(वहीं पृ० ३२ पर उद्धृत)

३. **अज्ञानतिमिरयोगाद् एकमपि स्वं एकभावमात्मानम्।**
ग्राह्यग्राहकनानावैचित्र्येणावबुध्येत्॥ (प० सा० का० २५)

४. **अख्यातिर्यदि न ख्यातिः ख्यातिरेवावशिष्यते।**
ख्यातिश्चेत् ख्यातिरूपत्वात् ख्यातिरेवावशिष्यते॥
(वहीं पृ० ३३ पर उद्धृत)

५. **परात्रिंशिकाविवृति में पृ० ९९ पर उद्धृत शिवदृष्टि की उक्ति।**

विकास का आधार है।[1] वे अवस्थाएँ हैं—पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी। पश्यन्ती में ग्राह्य तथा ग्राहक के भेद का सूत्र मिलता है, मध्यमा में उस भेद का आभास तथा वैखरी में उसका स्फुटतया प्रकाशन हो जाता है। यही भेद तथा अभेद का क्रम वस्तुतः इस विश्व के विकास का क्रम है।[2]

काश्मीर शिवाद्वय दर्शन में पराशक्ति का अत्यधिक महत्त्व है। यही वह शक्ति है जो, यद्यपि हमारे ग्रन्थ के उत्तर भाग में प्रकट होती है, तथापि समग्र विचारधारा को इतना व्याप्त कर लेती है कि शिव तो प्रायशः दब से जाते हैं। यह अपने को अशेष शक्तिजाल के रूप में विकसित कर लेती है तथा खेचरी, गोचरी, दिक्चरी तथा भूचरी आदि रूपों में पशु प्रमाता के हृदय में भेद की भावना को दृढ़ करती है तथा परमेश्वर के पारमार्थिक स्वरूप का गोपन कर लेती है। वे ही दिग्चरी, चिद्गगनचरी आदि देवियाँ पति प्रमाता के हृदय में अभेदप्रतीति उत्पन्न करके उसके हृदय को विकसित करके अपने स्वरूप का प्रस्फुरण करती है।[3]

विश्व का विकास पञ्चकृत्य प्रकिया के द्वारा होता है अतः इस पञ्चकृत्य का ज्ञान अतीव आवश्यक है। अब देखना यह है कि क्या यह पञ्चकृत्य-ज्ञान संसारी अवस्था में भी विद्यमान रहता है। यद्यपि परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य से ही जब अभेदव्याप्ति को छोड़कर भेदव्याप्ति का समाश्रयण करता है तो उसकी इच्छादि शक्तियाँ संकुचित हो जाती हैं और वह आणव, कार्म तथा मायीय मल से आवृत होकर संसारी हो जाता है। किन्तु उस अवस्था में भी शिवतोचित अभिमान रहता है अतः इस स्थिति में भी वह उसी प्रकार पञ्चकृत्य करता रहता है। वस्तुतः यह सृष्टि प्रक्रिया प्रतिक्षण जन-जन के मस्तिष्क में पृथक्-रूपेण चला करती है। वस्तुतः, जैसा कि हम सोचते हैं, विश्व एक नहीं अपितु जीवभेद से विभिन्न है। जिस प्रकार एक नेत्र की दृष्टि दूसरे नेत्र से भिन्न हुआ

---

१. थकारहकारसमव्याप्तिकताभिप्रायेण सर्वत्र प्रथमोल्लासे प्रसरदनन्त-वस्तु सृष्टिशक्तिभेदरूपत्वात्······(परा० वि० पृ० ९९–१००)

२. तथा हि चित्प्रकाशात् अव्यतिरिक्ता नित्योदितमहामन्त्ररूपपूर्णाहं-विमर्शमयी येयं परा वाक्छक्तिः आदिक्षान्तरूपाशेषशक्तिचक्रगर्भिणी सा तावत् पश्यन्तीमध्यमादिक्रमेण ग्राहकभूमिकां भासयति। परात्रिंशिका पृ० ४—५, (प्र० हृ० अ० ला० पृ० ५७-८)

३. देखिए प्र० हृ० अ० ला० पृ० ६१—६२।

करती है उसी प्रकार प्रत्येक जीव का विश्व भी भिन्न होता है । उदाहरणतः जब आप कोई चित्र देखते हैं तो दोनों नेत्रों द्वारा देखा हुआ वही चित्र विभिन्न रूप में प्रतीत होता है, यद्यपि वह एक ही चित्र रहता है ।

इसलिए इस विश्व की व्यक्तिगत अनुभूति को 'प्रातिस्विक' कहते हैं, जिसका अर्थ होता है "प्रत्येक मनुष्य की अपनी ।"[१] किन्तु इस प्रकार की पञ्चविधकृत्य-कारिता का ज्ञान सबको नहीं हो पाता । होता उसी को है जिस पर गुरु-चरणों की कृपा हो जाती है ।[२] इस प्रकार के पञ्चकृत्यकारित्व के अभाव के कारण शक्तिपात-जन्य अपनी शक्तियों का प्रकाशन नहीं हो पाता तभी जीव अपनी ही शक्तियों द्वारा विमोहित कर लिया जाता है अर्थात् विविध लौकिक तथा शास्त्रीय शंकाओं से उसका मस्तिष्क आकीर्ण हो जाता है । यही कहलाता है संसारी होना । जैसा कि 'वीर भट्टारक' में भी कहा गया है ।

अज्ञानाच्छंकते लोकः ततः सृष्टिश्च संहृतिः ।[३]

डा० पाण्डेय विश्व के विकास को सोद्देश्य मानते हुए इसका आधार कर्म मानते हैं । इनके अनुसार जीव को जो नाना प्रकार के सुख अथवा दुःख के अनुभव होते हैं वे इसके कर्मों के कारण हैं । अतः इस जगत् की सृष्टि कर्मोंकी प्रेरणा से होती है । प्रलय के समय जीवात्मा अपने कर्मों के साथ सोते रहते हैं । अतः जब वे अपनी गहरी निद्रा से जगते हैं तो, चूँकि, उनका प्रेरक कर्म वहाँ विद्यमान रहता है, अतः सृष्टि का प्रारम्भ हो जाता है । किन्तु महाप्रलय की स्थिति में परिस्थिति विपरीत होती है । उस समय जीवात्मा चरम सत्ता के साथ पूर्णतया विलीन हो जाता है । अतः महाप्रलय के उपरान्त उनकी जागृति सम्भव नहीं । और चूँकि प्रेरक कर्म का इस अवस्था में अभाव रहता है, अतः सृष्टि नहीं हो सकती ।[४] इसीलिए वेदान्ती तथा नैयायिक महाप्रलय की धारणा स्वीकार नहीं करते ।

---

१. का० शै० पृ० १६५

२. **ईदृशं च पञ्चविधकृत्यकारित्वं सर्वस्य सदा सन्निहितमपि सद्गुरू-पदेशं विना न प्रकाशत इति सद्गुरुसपर्यैव एतत्प्रथार्थमनुसर्तव्या ।**
पृ० हृ० अ० ला०, ५५

३. वहीं पृ० ५७ पर उद्धृत ।

४. अ० गु० द्वि० सं० पृ० ३५७

मोक्ष तथा उसके उपाय

"प्रत्यभिज्ञाहृदय" का द्वितीय मंगलश्लोक जहाँ, एक ओर वस्तु की सूचना देता है वहीं यह ध्वनित किये बिना नहीं रहता कि इसका उद्देश्य संसारस्वरूप विष के प्रभाव के कारण अज्ञान-तमिस्रा से आवृत-चेतस् वाले मूढ़ मानवों के लिए पीयूष प्रदान करना भी है, जिसका स्रोत है "प्रत्यभिज्ञासिन्धु।"[1] यही नहीं, यह उपमा अन्त में भी व्यक्त होती है।[2] इस उपमा के प्रति इतना झुकाव क्षेमराज के 'प्रत्यभिज्ञा' के प्रति उत्कट प्रेम का द्योतक तो है ही, साथ-ही-साथ इसके द्वारा वह यह भी निर्दिष्ट करना चाहते हैं कि प्रत्यभिज्ञा ही इतना विशाल तथा व्यापक साधन है जिसके द्वारा मूढ़ातिमूढ़ जन की जीवनतरणी भी संसार सागर के पार लग सकती है। इस प्रत्यभिज्ञा-तत्त्व का बोध कराने का उनका एक-मात्र साधन है गुरूपदेश। बिना इसके न यह बोध सम्भव[3] है और न ही इस भवविष की शान्ति। यह उनकी अनन्य गुरुनिष्ठा का स्पष्ट परिचायक है। भगवान् शंकर ने भी शिवसूत्रों का उपदेश इसीलिए किया था कि मानव के मन से द्वैत भाव उठ जाय तथा उसको माहेश्वर के साथ ऐक्य स्थापित करने वाले एक व्यावहारिक साधन का पता चल जाय।[4] इसीलिए क्षेमराज शिवसूत्रों का विभाजन भी तीन उपायों के रूप में करते हैं।[5] प्रत्यभिज्ञाहृदय में भी उन्हीं तत्त्वों का 'मनाक् उन्मीलन' किया गया है।[6] उनके अनुसार जीव तथा शिव के अभेद का परिज्ञान ही मुक्ति है और उसी का अपरिज्ञान बन्ध।[7] इस अज्ञान का कारण है अख्याति।

---

१. प्र० हृ० श्लो० २

२. मध्येबोधसुधाब्धि विश्वमभितस्तत्फेनपिण्डोपम्
   यः पश्येदुपदेशतस्तु कथितः साक्षात्स एकः शिवः ॥ प्र०हृ०अ०ला०, पृ०६६

३. देखिए वही पृ० ५५

४. देखिए भूमिका 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' तथा शि० सू० वि० भूमिका पृ० ४

५. देखिए, शि० सू० वि० भूमिका पृ० ४

६. प्र० हृ० अ० ला०, पृ० २०

७. वही पृ० ३३

अभिनव की मोक्ष-सम्बन्धी धारणा भी ऐसी ही है। ज्ञेय तत्त्व (पारमार्थिक सत्ता) का आध्यात्मिक ज्ञान ही वह साधन है जिसके द्वारा हम अपने को इस संसार-चक्र से मुक्त कर सकते हैं। यह साधन सभी प्रकार की सीमाओं तथा द्वैत भाव से परे है।[1]

इसके पूर्व कि हम मोक्ष तथा उसके उपाय पर विचार करें, हमारे लिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि आखिर वह कौन-सा कारण है जिससे मुक्ति पाने की हमें आवश्यकता प्रतीत होती है। वह कारण है "बन्ध"। बन्ध का अर्थ है संसरणशीलता। वसुगुप्त ने ज्ञान को "बन्ध" कहा है, **"ज्ञानं बन्धः"**। यहाँ ज्ञान से अभिप्राय है अज्ञानात्मक ज्ञान।[2] आखिर अज्ञान भी तो ज्ञान ही है। जो कुछ हम जानते हैं वही ज्ञान है। वह अज्ञान है—मलत्रय अर्थात् आणव-मल, कार्ममल तथा मायीय मल। इन्हीं तीनों के प्रभाव से जीव अनात्मनि शरीर में आत्मा को अधिष्ठित समझने लग जाता है। 'मालिनीविजय' के अनुसार भी मलत्रय ही अज्ञान है तथा वही संसार के अंकुर का कारण है।[3] 'श्रीसर्वाचार' भी यही कहता है।[4] शिव के अभेद का अज्ञान अपूर्णम्मन्यतात्मक आणव मल है और चूँकि इससे ज्ञान के संकुचित स्वरूप का पता चलता है, अतः यह बन्ध है। शाम्भवोपाय का तीसरा सूत्र भी इसी ओर निर्देश करता है।[5] उस पर विमर्शिनी करते हुए क्षेमराज इस बात को **"बन्ध इत्यनुवर्तते"** के द्वारा स्पष्ट कर देते हैं। इस बन्ध-रूप ज्ञान की जड़ है मातृका देवी।[6] यह मातृका देवी अ से लेकर क्ष तक स्वरों की अधिष्ठात्री हैं, विश्व-जननी हैं और हैं—सविकल्पक तथा निर्विकल्पक

---

१ **यत्तु ज्ञेयस्य तत्त्वस्य ज्ञानं सर्वात्मनोज्झितम्।**
अवच्छेदैर्न तत्कुत्राप्यज्ञानं सत्यमुक्तिदम्॥

तन्त्रा० १, ७२

२. **यावत् अनात्मनि शरीरादौ आत्मताभिमानात्मकम् अज्ञानमूलं ज्ञानमपि बन्ध एव। शि० सू० वि० पृ० १३**

३. **मलमज्ञानमिच्छिन्ति संसाराङ्कुरकारणम्।**

शिव सू० वि० में पृ० ११५ पर उद्धृत

४. **अज्ञानाद्बध्यते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहृतिः। वहीं पर उद्धृत।**

५. **योनिवर्गः कला शरीरम्॥ ३॥ शि० सू०**

६. **ज्ञानाधिष्ठानं मातृका॥ ४॥ शि० सू०**

परामर्श एवं हर्षशोकादि भावों की जन्मदात्री ।[1] इसी प्रकार के अज्ञान द्वारा हमको प्रकाशविमर्शस्वभाव शिव के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता। हम यह समझने लग जाते हैं कि वह प्रकाश तथा विमर्श धर्मरूप चोले को उतार कर अलग रख देता है। किन्तु, वस्तुतः प्रकाश तथा विमर्श उसके धर्म नहीं, अपितु स्वरूप ही हैं। हम अपनी दैनिक अनुभूति-द्वारा शिव के इस सर्वव्यापी तथा अनन्त स्वरूप का प्रत्यक्ष नहीं कर पाते। हम स्वप्न में भी यह धारणा नहीं बना पाते कि हम जो चाहें वह जान सकते हैं या कर सकते हैं। स्वेच्छया गृहीत इस स्वरूप में प्रतिक्षण सुख-दुःख की सृष्टि होती रहती है। शैवाचार्यों के अनुसार यह स्वरूपाख्याति भी शिवेच्छाजन्य है। उनके अनुसार चरमसत्य परमेश्वर अथवा परमतत्त्व ही सभी कृत्य चाहे वे बन्धपरक हों अथवा मोक्षपरक, सभी का सम्पादन करता है।[2] उसी की इच्छानुसार बन्ध के मूल कारण माया तथा मलों का प्रादुर्भाव होता है।[3] इसी माया और उससे उत्पन्न मलों के फन्दे में पड़कर प्रभु-इच्छावशात् आत्मा चराचर रूपों में विभक्त हो जाता है। क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञाहृदय में यद्यपि बन्ध का पृथक् विवेचन नहीं किया है तथापि मोक्षस्वरूप के विवेचन-प्रसंग में वह इस ओर भी निर्देश कर गये हैं। इसी बन्ध की विभीषिका से बचने के लिए मोक्ष की आवश्यकता होती है।

त्रिक के अनुसार मोक्ष पूर्व-संवित् के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। यह केवल परासंवित् की प्राप्ति की अवस्था का नाम है,[4] जो भाषा तथा विचार द्वारा गोचर नहीं तथा न केवल इन्हीं दोनों, अपितु इन दोनों से सम्बद्ध सभी विषयों का परम साधन है। यह विशुद्धरूपेण विषयीगत है, अतः बाह्य प्रकाश से इसका न तो प्रकाशन सम्भव है और न ही किसी प्रमाण द्वारा इसका ज्ञान। अप्रकाश्य तथा अज्ञेय यह मोक्ष विश्वोत्तीर्ण है। यह चरम लक्ष्यों का लक्ष्य है। इसके लिए हम संवित् का प्रयोग कर सकते हैं किन्तु वह चेतना योगियों की अनुभूति का विषय है। सामान्य जन की वहाँ तक गति नहीं। यह चैतन्य ही तुर्यातीत अवस्था से भी बाद की अवस्था है।

---

१. शि० सू० वि, पृ० १६–७

२. प० सा० पृ० ३३

३. स्वतन्त्रस्य शिवस्येच्छा घटरूपो यथा घटः ।
स्वात्मप्रच्छादनेच्छैव वस्तुभूतस्तथामलः ॥ तंत्रा० ६, पृ० ६५-६

४. मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि तत् ।
स्वरूपं चात्मनः संवित् नान्यत्............॥ तंत्रा० १, पृ० १९२

अभिनव ने अपने 'तन्त्रालोक' तथा 'तन्त्रसार' में मोक्ष का चतुर्धा विभाजन किया है। वे हैं—अनुपाय, शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय तथा आणवोपाय। इन्हीं को हम क्रमशः आनन्दोपाय, इच्छोपाय, ज्ञानोपाय तथा क्रियोपाय कह सकते हैं। क्षेमराज अपनी शिव-सूत्र-विमर्शिनी में केवल तीन ही तक सीमित रह जाते हैं—शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय तथा आणवोपाय। प्रत्यभिज्ञाहृदय में यद्यपि इनका कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता किन्तु इनका दृष्टिकोण क्रमशः इसी विभाजन पर आधृत रहा है। वह अनुपाय को भी इन्हीं में समाहित मान लेते हैं। मकड़ी की भाँति स्वेच्छया बद्ध परमेश्वर की स्वेच्छया मुक्ति के इन उपायों को 'समावेश' नाम से भी अभिहित किया जा सकता है।[१] 'समावेश' का तात्पर्य है, एक उपाय का दूसरे में आवेश; अतः ये उपाय एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते।

(१) अनुपाय मार्ग अथवा आनन्दोपाय

यह प्रत्यभिज्ञा[२] की भाँति है जिसको हम पारमार्थिक अन्तर्दृष्टि कह सकते हैं। जो व्यक्ति अपने अन्तस् में शिव की खोज कर लेता है अर्थात् जो प्रतिपादित शास्त्र के अनुसार इस बात का परिज्ञान प्राप्त कर लेता है कि उसकी अन्तरात्मा शिव तथा विश्व से अव्यतिरिक्त है, वह मुक्त हो जाता है। अतः सत्य के अन्वेषक जिज्ञासु के लिए चित्त की एकाग्रता, भक्ति तथा सद्गुरु के उपदेश आवश्यक अंग हैं। इसको अनुपाय इसलिए नहीं कहते कि इसमें किसी भी उपाय की आवश्यकता नहीं, अपितु इसलिए कि उपायों का इसमें अत्यल्प महत्त्व है।[२] यह वह मार्ग है जिसमें चरम तत्त्व की प्राप्ति बिना भावना के हो जाती है। इसमें साधक को चरम तत्त्व की प्राप्ति गुरु अथवा किसी आप्त पुरुष के शब्दों के फलस्वरूप होती है। इस उपाय द्वारा प्राप्त किये गये पद की तुलना सुषुप्ति से की जा सकती है जिसमें चैतन्य सभी उपरागों से विनिर्मुक्त रहता है।। इसलिए सम्भवतः इसे आनन्दोपाय कहा जाता है।

(२) शाम्भवोपाय अथवा इच्छोपाय

इसमें पूर्णज्ञान अर्थात् चरमसत्ता का ज्ञान इच्छाशक्ति के आभास के द्वारा प्राप्त होता है। इसमें किसी प्रकार की गहरी समाधि, श्वास-निरोध अथवा अनुसन्धि अथवा उसके लोप की आवश्यकता नहीं पड़ती, ठीक उसी प्रकार जिस

---

१. देहप्राणविमर्शनधीः ज्ञानं नभः प्रपञ्चयोगेन।
आत्मानं वेष्टयते चित्रम् जालेन जालकार इव॥ प० सा० ३

२. तंत्रा० आ० २, ३

प्रकार एक कुशल जौहरी को रत्न के मूल्य का पता उसको देखते ही चल जाता है।[२] इसको शाम्भव मार्ग अथवा इच्छोपाय इसलिए कहते हैं कि इसमें इच्छा-शक्ति के अभ्यास की प्रधानता रहती है। इसके द्वारा प्राप्त पद वह पद है जिसमें अनुभूतियों का निश्चय समाप्त हो जाता है ; अतः इसकी तुलना उस स्थिति से की जा सकती है जो कि सोने के पहिले आती है तथा जिसका महत्त्व ऐसे स्थूल विचारों से है जो इच्छा-काल में उठते हैं।

(३) ज्ञानोपाय अथवा शाक्तोपाय

यह वह उपाय है जिसमें द्वैतभाव से अद्वैत भाव तक उठने के लिए अनवरत प्रयत्न किये जाते हैं। उदाहरण के लिए जब कोई साधक यह सोचना प्रारम्भ कर देता है कि 'यह जो कुछ है सब आत्मा है, '**आत्मैव सर्वम्**' तथा अनवरत प्रयत्न के फलस्वरूप ऐक्य का निर्विकल्पक ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वही वास्तव में ज्ञान का साधक कहलाता है। इसको ज्ञानोपाय इसलिए कहते हैं कि इसमें मानसिक क्रियाओं की प्रधानता रहती है। यह वह साधन है जो हठयोग के पूर्व की स्थिति कही जा सकती है। श्वासनिरोध तथा चित्त को शरीर के किसी अंग पर धारण करने से योगी शक्तियों पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। अतः पहिले मोहित करने वाली शक्तियाँ ही पराभूमि तथा मोक्ष की प्राप्ति में सहायक हो जाती हैं।[१]

(४) क्रियोपाय अथवा आणवोपाय

क्रियोपाय वह मार्ग है जिसमें आत्मसाक्षात्कार के लिए कुछ मन्त्रों का उच्चारण करना पड़ता है। वे मन्त्र केवल कल्पना-मात्र होते हैं। इसको क्रियोपाय कहने का कारण यह है कि इसके साधक के लिए 'इदन्ता' तथा 'अहन्ता' दोनों का समान महत्त्व होता है जो कि सद्विद्या अवस्था (अहमिदम्) की प्रधान अनुभूति है। इसके अतिरिक्त इसमें मन्त्रोच्चारण इत्यादि शारीरिक क्रियाओं का विशेष स्थान होता है। डा० पाण्डेय तो मन्त्रों की तुलना लोरी से करते हैं। जिस प्रकार लोरी बच्चे को सुलाने में सहायक होती है उसी प्रकार मन्त्र मोक्ष में सहायक होते हैं।[३]

त्रिक-मोक्ष-धारणा के साथ अन्य दर्शनों की मोक्ष-धारणाओं की तुलना द्वारा हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि त्रिक दर्शन की

---

१. **यथा विस्फुरितदृशामनुसन्धिं विनाप्यलम् ।**
भाति भावः स्फुटस्तद्वत् केषामपि शिवात्मता ॥ तंत्रा०, १, १८६

२. **प्र० हृ० अ० ला०, ६६–७**

३. **अ० गु० द्वि० सं० पृ० ३१४**

मोक्ष-धारणा अत्यन्त व्यापक तथा विकसित है। स्वशक्ति के अभिव्यक्त हो जाने पर अथवा अज्ञान के कारण के नष्ट हो जाने पर प्रमाता के संसार से ऊर्ध्वपर्यन्त-गमन की जैन कल्पना शैवदर्शन को मान्य नहीं। उनके अनुसार मुक्त प्राणी का संसार में आगमन रुक नहीं जाता अपितु जगत् का आत्मा से ऐक्य स्थापित हो जाता है। शैव तत्त्वचिन्तकों का मोक्ष जैनियों की भाँति सिद्ध शिला में अनन्तकाल तक निवास नहीं।[1] बौद्धों के निर्वाण की भाँति आत्मा की पूर्णता में तो शैव दर्शन भी आस्था रखता है, पर बौद्धों के आत्मा को अनित्य (क्षणभंगुर) मानने के कारण मोक्ष के स्वरूप में भेद हो जाता है। न्यायवैशेषिक की भाँति त्रिक मुक्तात्मा को पत्थर के समान भी नहीं बताता जिसके कारण वैशेषिकी मुक्ति को हेय समझा जाता है।[2] सांख्य योग की भाँति यद्यपि शैव भी पुरुष के स्वस्वरूप-दर्शन को मोक्ष मानता है किन्तु निष्क्रियता को स्थान न देकर मोक्षावस्था में भी विमर्श को स्थान देता है। वेदान्त की मुक्तावस्था में सारे जगत् का रज्जू सर्प की भाँति बाध हो जाता है। शैव दार्शनिक जगत् को मोक्षावस्था में भी इस प्रकार असत् एवं प्रातिभासिक रूप में नहीं देखते। शैव दर्शन मीमांसा के सुखमय स्वर्ग की भाँति अपूर्वपार्यन्तिक मोक्ष-धारणा को भी मान्यता नहीं देता। अपूर्व के समाप्त होने पर पुनः संसारी बनने की सम्भावना ही नहीं। शैवों का मोक्ष अनंतकाल तक रहने वाले शिवत्व की प्राप्ति है। विज्ञानवादियों का निर्वाण अनादि अविद्या से 'ध्यान' आदि बौद्धों के मोक्ष-प्रद साधनों के द्वारा मुक्त हो जाना है। परन्तु धारणा और भावना के लिए मस्तिष्क में स्थायित्व मानना आवश्यक हो जाता है। इसके अतिरिक्त इनके अनुसार एक क्षण दूसरे समान क्षण को जन्म देता है तो अविद्या से असमान उत्पत्ति कैसे सम्भव हो सकती है ? शून्यवादी बौद्धों द्वारा प्रतिपादित शून्य का ज्ञान भी सम्भव नहीं जिससे वे मोक्ष मानते हैं, जब सब कुछ शून्य है तो ज्ञान प्राप्ति किसको होगी ? सांख्याचार्यों द्वारा चौबीस तत्त्वों के ज्ञान को मोक्ष कहा गया है। पर यह समझ में नहीं आता कि वह सम्यक् ज्ञान होगा किसको ? बुद्धि प्रकृति-जन्य होने के कारण अचेतन है तथा पुरुष 'पुष्करपलाशवत् निर्लेपस्वभाव'।

शैव सिद्धान्त के साथ, मोक्ष की धारणा में, बाह्यरूपेण तो इसका साम्य प्रतीत होता है किन्तु मूल सिद्धान्तों में मतभेद है। उदाहरण के लिए शैवसिद्धान्त

---

१. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम् (नैषध)

२. वरं वृन्दावनेऽरण्येश्रृगालत्वं भजाम्यहम्।
न पुनर्वैशेषिकीं मुक्तिं प्रार्थयामि कथञ्चन॥

—वैष्णव भक्त

की मोक्ष-धारणा में भी आत्मसाक्षात्कार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है किन्तु उसे वे प्रत्यभिज्ञा नहीं कहते । कारण यह कि इसके अनुसार जीव परमात्मा से ऐक्य नहीं स्थापित करता अपितु उसके अधीन हो जाता है । 'सिद्धान्त' के लिए "पूर्णमोक्ष उसी प्रकार है जसा कि ईसाइयों की प्रार्थना-पुस्तक के लिए परमेश्वर की सेवा ।"[१] इसके अनुसार आत्मा न तो परासंवित् में लीन होती है और उसका अंग बनता है वरन् उसकी सहायता से तथा उसी के अधीन रहकर काम किया करता है । पाशज्ञान पतिज्ञान को स्थान देता है । आत्मा बन्ध तथा मोक्ष दोनों अवस्थाओं में प्रमाता तथा उपभोक्ता बना रहता है । एकजीववाद के ऊपर 'सिद्धान्त' का यह बहुत बड़ा आक्षेप है । यदि, मुक्तावस्था में 'मैं' उपभोक्ता नहीं तो दूसरा कौन है ? अन्तिम मुक्ति दोनों के अनुसार ज्ञान द्वारा सम्भव है, यद्यपि दोनों के ज्ञान के विषय समान नहीं । चित्तपरिशोध, कर्मकाण्डों का अनुष्ठान, तपश्चर्या तथा योगानुशासन ज्ञान के पूर्व अंग हैं ।[१] जीवन्मुक्ति की मान्यता दोनों में समान है किन्तु सिद्धान्तों में मतभेद है । इसका कारण है पास की धारणा के विषय में मौलिक भेद । वेदान्त के अनुसार मुक्तावस्था में माया का उन्मूलन हो जाता है, प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र के अनुसार ग्राह्य तथा ग्राहक की द्वैत भावना समाप्त कर दी जाती है किन्तु 'सिद्धान्त' के अनुसार 'पाश' बन्धन तथा मुक्ति दोनों अवस्थाओं में चलता रहता है । न तो 'पाश' का नाश होता है और न आणव का ; अपितु आत्मा तथा आणव के संयोग का, जो कि इसके आत्मस्वरूप-निर्धारण में प्रमुख बाधा है । 'सिद्धान्त' की एक अन्य शाखा के अनुसार आणव की कुछ शक्तियों में से एक शक्ति का परिहाण हो जाता है ।[२] इस प्रकार हम देखते हैं कि 'सिद्धान्त' का जीवन्मुक्त निर्बन्ध मुक्ति का उपभोग नहीं कर पाता क्योंकि पाश तो मुक्तावस्था में भी बना रहता है । जब कि प्रत्यभिज्ञानय का जीवन्मुक्त चिदानन्द लाभ करता है ।

भले ही ये उपर्युक्त सिद्धान्त विभिन्न तत्त्वों की प्राप्ति में सहायक हों जिन पर कि वे प्रकाश डालते हैं; किन्तु इनमें से किसी के द्वारा भी पूर्ण आत्मसाक्षात्कार सम्भव नहीं और न ही चरमसत्ता का पूर्ण ज्ञान ।[३] इन सभी सिद्धान्तों द्वारा प्रतिपादित मोक्ष की धारणा में एक बात जो खटकती है वह यह है कि इनके

---

१. देखिए प्र० हृ० अ० ला० The Pratyabhijna System and Saiva Siddhanta PP VIII.

२. शिवाग्रभाष्य । मद्रास० ग्रन्थ० संस्करण, पृ० ४६१—३

३. अ० गु० द्वि० सं० पृ० ३१८

अनुसार मोक्ष-प्राप्त सामान्य मानव मायीय मल से अंशतः विमुक्त हो जाता है किन्तु कार्म तथा आणव मल तो इनके द्वारा प्रतिपादित मुक्तावस्था में भी बने रहते हैं ; अतः पूर्ण मुक्ति भला कैसे सम्भव हो सकती है ? अतः प्रत्यभिज्ञाहृदय की रचना उन्हीं लोगों को यह बात समझाने के लिए की गयी है जो ईश्वर का प्रत्यभिज्ञान अभी तक अज्ञानवशात् नहीं कर सके।[1]

शैवाचार्यों का मोक्ष कोई ऐसा मोक्ष नहीं जिसमें अलौकिक देह धारण करके प्रवेश पाया जाता हो। यह परिज्ञान तो शरीरधारण-काल में भी हो सकता है। इसीलिए इनका मोक्ष जीवन्मुक्ति कहलाता है। यह उन्हीं को प्राप्त हो सकता है जो विश्व (जो वस्तुतः उन्हीं के स्वरूप का विकास है) के पञ्चकृत्यों को समझ सकते हैं।[2] आत्यन्तिकी मुक्तिधी से पूर्व अनुग्रहवश मुक्तपुरुष के शरीरसम्बन्ध को अभिनव मोक्ष में बाधक नहीं समझते।[3]

क्षेमराज अविचल चिदैकत्व-प्रथा को जीवन्मुक्ति मानते हैं।[4] इसी का स्पन्द भी प्रतिपादन करता हुआ प्रतीत होता है।[5] यह जीवन्मुक्ति चिदानन्द की उपलब्धि के अनन्तर की स्थिति है और चिदानन्द की उपलब्धि ब्रह्मरन्ध्र से लेकर अधोवक्त्र-पर्यन्त पलाश के मध्य में अन्तर्शाखाओं की भाँति प्राणशक्ति ब्रह्माश्रय तथा मध्यनाडी (सुषुम्नानाडी) रूप में प्राधान्येन स्थित मध्यभूता संवित् देवी अथवा ब्रह्मनाडी के विकसित होने पर ही होती है।[6] मध्य का विकास विकल्प के नाश, शक्ति के संकोच तथा विकास, वाहच्छेद तथा निभालन आदि से सम्भव है[7] तथा प्राणायाम मुद्राबन्ध आदि इसके अन्य उपाय भी हैं। इन्हीं प्राणायाम आदि के द्वारा निभालन में प्रवण साधक तुर्य तथा तुर्यातीत की अवस्थाएँ प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था की प्राप्ति के लिए विकल्प का ह्रास

---

१. प्र० हृ० अन्तिम श्लोक

२. स्वरूपविकासमयं विश्वं जानाना जीवन्मुक्ता इत्याम्नाताः
प्र० हृ० अ० ला० पृ० ५३

३. प० सा० पृ० ६१

४. अविचला चिदेकत्वप्रथा सैव जीवन्मुक्तिः जीवतः प्राणानपि धारयतो मुक्तिः
प्र० हृ० अ० ला० पृ० ७२

५. इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन् सततं मुक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥ स्प० का० ३

६. प्र० हृ० अ० ला०, पृ० ७४।

७. वही सू० १७ तथा उसकी व्याख्या

तथा अविकल्प का परामर्श भी अनिवार्य है। इसी उपाय को उत्पल ने अपनी प्रत्यभिज्ञाकारिका में सभी उपायों का शिरोमणि माना है, अतः प्रत्यभिज्ञाहृदयकार भी इसी के समर्थक हैं। शक्ति-संकोचादि अवस्थाएँ तो प्रत्यभिज्ञाविहित नहीं हैं किन्तु चूंकि उनका परम्परा से वर्णन प्राप्त है अतः यहाँ भी उनकी चर्चा कर दी गयी है।[1] मध्यविकास द्वारा प्राप्त चिदानन्द को ही योगी योग के सन्दर्भ में समावेश अथवा समाधि आदि नामों से भी अभिहित करते हैं। इस समाधि का फल है, प्रकाशानन्दसार महामन्त्रवीर्यस्वरूप पूर्ण अहन्ता में प्रवेश करने से सैदव सृष्टि तथा संहार का विधान करने वाले अपनी संवित् देवी के चक्रेश्वरतापद की प्राप्ति; और यही प्राप्ति प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का अभीष्ट लक्ष्य है।

इस प्रकार चिन्मय में लीन योगी को न बन्ध होता है न मोक्ष, क्योंकि स्वयं चिन्मय शिव तो इससे सर्वथा मुक्त है।[2]

१. वही ७७–८

२. न मे बन्धो न मोक्षो मे भीतस्यैषा विभीषिका।
प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेर्जलेष्विव विवस्वतः॥
वि० भै०; पृ० १३५

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

ओ३म् नमो मङ्गलमूर्तये

मंगल मूर्ति (शिव) को नमस्कार है।

अथ

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्याभिधायिने ।
चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थविभासिने ॥ १ ॥
शांकरोपनिषत्सारप्रत्यभिज्ञामहोदधेः ।
क्षेमेणोद्ध्रियते सारः संसारविषशान्तये ॥२॥

सदैव पञ्चकृत्य (सृष्टि, स्थिति, संहृति, विलय तथा अनुग्रह) का विधान करने वाले तथा चित् एवं आनन्द से सम्पृक्त परमार्थ का आभास करने वाले शिव को नमस्कार है।

आगम-शास्त्र के प्रधानांग प्रत्यभिज्ञाहृदयरूपी महासिंधु का सारांश क्षेमराज संसार-रूपी विष की शांति के लिए उद्धृत कर रहे हैं।

पञ्चकृत्य—क्षेमराज ने अपने "प्रत्यभिज्ञाहृदय" में 'पञ्चकृत्य' पद का प्रयोग यहाँ तथा एक अन्य स्थल पर भी किया है, '**तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति**'[1]। अभिनवगुप्त ने "पञ्चकृत्य" पद का प्रयोग अन्य कृतियों के अतिरिक्त अपने स्तोत्रों में भी किया है। "**परे देवते पञ्चकृत्यलोले**" तथा "**परमेश्वरि पञ्चकृत्यलीले।**"[2] ये पञ्चकृत्य हैं—सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय अथवा तिरोधान तथा अनुग्रह।

---

१. प्र० हृ० सू० १०

२. र० पं० स्तो० ७, १५

**"पञ्चविधं तत्कृत्यं सृष्टिस्थितिसंहारतिरोभावः ।
तद्वदनुग्रहकरणं प्रोक्तं सततोदितस्यास्य ॥"**[1]

विश्व की पाँच प्रक्रियाएँ ही वस्तुतः शिव के इस कृत्यपञ्चक की आधार हैं। आगमसम्मत आत्मा सदैव पञ्चकृत्यकारी है। यही मन्तव्य दक्षिण-शैव सिद्धान्त का भी है। माधव ने भी इसी मान्यता के पक्ष में अपने विचार व्यक्त किये हैं।[2] यहाँ सृष्टि से अभिप्राय है—समग्र भावजात का सर्जन—स्फुटीकरण। स्थिति सृष्ट पदार्थों के किंचित्काल स्थायित्व की द्योतक है। संहार अथवा संहृति है—पुनः अपने में विलीनीकरण जो स्थिति के विनाश अथवा प्रलय द्वारा सम्भव होती है। विलय अथवा तिरोधान उनके लुप्त होने की स्थिति है और अनुग्रह है—भगवत्कृपा का वितरण अर्थात् स्वरूप-बोध।

प्रथम चार कृत्य विश्व-प्रक्रिया के चार पक्षों का निरूपण करते हैं। यह प्रक्रिया अविरलरूपेण अपने को समाप्त करती और दुहराती हुई अपरिमित काल से चली आ रही है। शिव स्वतः अपने बाहर विश्व को अभिव्यक्त करता है।

"स्वेच्छया विश्वमुन्मीलयति"—इसमें अस्तित्व संचार करता है और पुनः अपने में ही उसे समेट लेता है जिससे कि विलय अथवा सार्वभौम विश्रान्ति (तिरोधान) की अवधि के उपरान्त उसे वह पुनः प्रकट कर सके। स्वरूपावबोध भगवदनुग्रह से ही सम्भव है।

क्षेमराज तो इस ओर भी निर्देश करते हैं कि अपनी परिमितावस्था पशु में भी वह इन पाँचों क्रियाओं को परिमित क्षेत्र एवं रूप में उस सीमा तक प्रदर्शित करता है जब तक व्यक्ति का शिवत्व स्थिर रहता है, **"नियतदेशकालाद्याभासांशे अस्य स्रष्टृता; अन्यदेशकालाद्याभासांशे अस्य संहर्तृता; नीलाद्याभासांशे स्थापकता; भेदेन आभासांशे विलयकारिता; प्रकाशैक्येन प्रकाशने अनुग्रहीतृता।"**[3] पशुभाव में भी इन प्रक्रियाओं का होना उसके वास्तविक शिवतत्त्व का विश्वास कराने में सहायक होता है।[4] अभिनव भी स्थल-स्थल पर इस बात की ओर संकेत करते हैं। 'तन्त्रवटधानिकाकार' तथा 'महार्थमंजरीकार' भी इसी बात का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं।[5] माहेश्वर

---

१. स० द० सं० में उद्धृत भोजराज की कारिका
२. स० द० सं० पृ० ३१७
३. प्र० हृ०, अ० ला०, पृ० ६३
४. प० पं०, पृ० २४
५. तं० व० ध० पृ०, २८–३०, म० मं०, पृ० ५३

की यह पंचविध क्रीडा प्रतिक्षण चलती रहती है। चिद्रूप का सम्बन्ध अनुग्रह से है, आनन्दरूप का लय से तथा इच्छारूप, ज्ञानरूप एवं क्रियारूप का सम्बन्ध क्रमशः सृष्टि स्थिति तथा संहार से है। इन्हीं पाँच रूपों के कारण शंकर के पाँच अभिधान हैं—ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात। तुर्यातीत और तुर्यदशा की व्याप्ति है ईशान और तत्पुरुष से, तथा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति का सद्योजात, वामदेव और अघोर से। इसी क्रम से पाँच महाभूतों की व्याप्ति इनसे कही गयी है।

आगमशास्त्र—मंगल श्लोक में प्रयुक्त 'शांकरोपनिषद्' से कृतिकार का अभिप्राय काश्मीर शैवागम शास्त्र से है। चटर्जी महोदय तथा डॉ० पाण्डेय ने जो कुछ विवरण दिया है उससे इन आगमों की उत्पत्ति अपौरुषेय ही मानी जा सकती है।[1] इसी विचार की पुष्टि करते हुए अभिनव 'मालिनीविजयवार्तिक' में इसका दार्शनिक निरूपण प्रस्तुत करते हैं जिसके अनुसार :

त्रिकशास्त्र द्वारा प्रतिपादित सृष्टि अथवा आभासन दो प्रकार का है—१. वाच्यरूप, २. वाचकरूप (वाच्यवाचकात्मक)। वाक् को भी दो भागों में विभक्त किया गया है—दैवी वाक् तथा पौरुषेय वाक् (परावाक्, अपरावाक्)। शैवागम परावाक् है, इसी कारण व्यक्तिगत विमर्श, जो कि सामान्य मानव की वाणी के कारण हैं, के विपरीत वे परमविमर्श के सूक्ष्माभिव्यक्तीकरण हैं। वाक् पराशक्ति से तादात्म्य की स्थिति में नित्य होती है और चूँकि आगम परावाक् हैं अतएव वे भी नित्य हैं। अतः त्रिकशास्त्र के अनुसार शैवागमों की उत्पत्ति नहीं होती अपितु उनका आभासन तथा पुनराभासन होता रहता है। जैसाकि उनकी संज्ञा से ही स्पष्ट है **"आगच्छति परम्परानुसारेण आपततीत्यागमः।"** वेदों की भाँति इसके विषय में भी लोगों का विश्वास है कि ये गुरुशिष्य-परम्परा द्वारा आगे बढ़ते रहे। सर्वप्रथम इन आगमों में नौ करोड़ श्लोक थे। और केवल भैरव इनको जानते थे। किन्तु इसी गुरुशिष्य-परम्परा के कारण ये कम होते गये।[2] कलियुग में इन आगमों के प्रचार का श्रेय ऋषि त्र्यम्बक को है जिसका तत्त्वोपदेश ऋषि दुर्वासा ने उनको स्वयं शिव के आदेश पर किया था। त्र्यम्बक ने इसका उपदेश अपने शिष्यों को शिवाद्वैतवाद के आधार पर किया। सोमानन्द इस परम्परा के उन्नीसवें आचार्य माने जाते हैं। दुर्वासा ने इन आगमों का उपदेश तीन भागों में दिया था—(१) अद्वैतवाद, (२) द्वैतवाद, (३) द्वैताद्वैतवाद, जिनके

१. का० शै०, पृ० ७ तथा अ० गु० द्वि सं० पृ० १३२

२. अ० गु० द्वि० सं० १३३–३४, तंत्रा०, आ० ३६, पृ० ३८१–८८

आचार्य थे, क्रमशः त्र्यम्बक, आमर्दक तथा श्रीनाथ। किन्तु कालान्तर में सम्भवतः अन्तिम दोनों वादों के प्रचार को अवरुद्ध करने के लिए ही स्वयं भगवान् शंकर ने 'शिव-सूत्रों' का उपदेश किया जो कि त्रिकशास्त्र के स्रोत हैं। वस्तुतः इनको ही 'शिवोपनिषद्संग्रह' नाम से अभिहित किया जाता है।[1] अतः हो सकता है कि आचार्य क्षेमराज का अभिप्राय इन्हीं सूत्रों से रहा हो।

प्रत्यभिज्ञा—माधवाचार्य ने अपने "सर्वदर्शनसंग्रह" में त्रिकदर्शन का निरूपण इसी अभिधान "प्रत्यभिज्ञादर्शन" से किया है। ऐसा करने में उनको एक बात अभीष्ट प्रतीत होती है। वह यह कि जिस दर्शन को वह शैवदर्शन की संज्ञा से अभिहित करते हैं वह एक द्वैतवादी शास्त्र है तथा काश्मीर शैवदर्शन से मूलतः भिन्न है। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र भी स्पन्दशास्त्र की भाँति अद्वैतवादी शैवागमों पर ही आधृत है और दोनों के विश्व, उसके हेतु, आत्मा तथा परमार्थ के स्वरूप के दार्शनिक निरूपण में कोई तात्त्विक भेद नहीं। भेद केवल है—दोनों की परमार्थ-प्राप्ति के साधन में। स्पन्द शाखा ने इस प्राप्ति के तीन प्रख्यात साधन बताये हैं—(१) शांभव, (२) शाक्त तथा (३) आणव, जैसाकि इन्हीं साधनों के आधार पर शिवसूत्र के प्रकरण-विभाजन से स्पष्ट है। इसके विपरीत प्रत्यभिज्ञाशास्त्र ने, जैसाकि प्रत्यभिज्ञाकारिका में स्पष्ट कर दिया गया है, इसके प्राप्त्यर्थ एक अज्ञातपूर्व एव सरल सरणि निश्चित की तथा जिसके विषय में प्रथम निर्देश सोमानन्द ने अपनी शिव-दृष्टि में किया था—

इति प्रकटितो मया सुघट एष मार्गो नवो
गुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रे यथा।
तदत्र निदधत्पदं भुवनकर्तृतामात्मनो
विभाव्य शिवतामयीमनिशमाविशन् सिद्ध्यति ॥[2]

क्षेम—'क्षेम' क्षेमराज का ही संक्षिप्ताभिधान प्रतीत होता है। अभिनवगुप्त ने भी अपने 'तन्त्रालोक' के सैंतीसवें आह्निक में शिष्यगणना-प्रसंग में इनको इसी संज्ञा से अभिहित किया है।[3]

इह ये सुकुमारमतयोऽकृततीक्ष्णतर्कशास्त्रपरिश्रमाः शक्तिपातोन्मिषितपारमेश्वरसमावेशाभिलाषिणः कतिचित् भक्तिभाजः तेषाम् ईश्वरप्रत्यभिज्ञोपदेशतत्त्वं मनाक् उन्मील्यते।

---

१. शि० सू० वि० पृ० ३
२. ई० प्र० वि० २, पृ० २७१
३. देखिए भूमिका

इस जगत् में जो अपरिपक्व बुद्धि वाले हैं, तथा जिन्होंने तर्कशास्त्र के अनुशीलन में घोर परिश्रम नहीं किया है, किन्तु, फिर भी जो उसके शक्तिपात (के अनुग्रह) से उत्पन्न, परमेश्वर का समावेश चाहते हैं, उन भक्तों को ईश्वर का प्रत्यभिज्ञान कराने वाले उपदेश-तत्त्व पर किंचित् प्रकाश डाला जा रहा है।

शक्तिपात—'शक्तिपात' परमप्रमाता शिव की उस इच्छा का नाम है जो हमको आत्मज्ञान के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करती है। इसको शिव की एक अनुकम्पा समझिए। इसीलिए कभी कभी इसे 'अनुग्रह' का समानार्थक मान लिया जाता है। किन्तु वस्तुतः, ये दोनों एक नहीं। एक शिव की शक्ति तथा एक कृत्य है, दूसरी 'अनुग्रह' से ही परिणमित स्वरूपावबोध की प्रक्रिया। परन्तु 'शक्तिपात' भी मानव-व्यापार से निरपेक्ष है, **'इत्थं श्रीशक्तिपातोऽयं निरपेक्ष इहोदितः'**[1] तथा है—आत्मस्वरूपानुभूति का एक मात्र हेतु,

"स्वातन्त्र्यमहिमैवायं देवस्य यदसौ पुनः।
स्वं रूपं परिशुद्धं सत्स्पृशत्यप्यनुमानतः॥"[2]

इस विषय को लेकर वेदान्त तथा इस सिद्धान्त में पूर्ण मतैक्य है। वेदान्त के अनुसार भी आत्मोपलब्धि बौद्धिक शक्ति अथवा वेदाध्याय या दीक्षा द्वारा सम्भव नहीं। वह तो उसी के लिए सम्भव है जिस पर वह परमात्मा कृपालु होकर स्वयं अपने को अभिव्यक्त करता है। श्रुति भी कहती है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेव एष वृणुते तेन लभ्यो यस्मै विवृणुते तनुं स्वाम्॥[3]

समावेश—'परमेश्वर में समावेश' से अभिप्राय है अपने चरमरूप का उसी परमेश्वर में विलीनीकरण **"आवेशश्चास्वतन्त्रस्य स्वतद्रूपनिमज्जनात्"**[4]। यह स्वतद्रूपनिमज्जन है 'जीवन्मुक्त', **'जीवन्मुक्तास्तथा समावेश इत्युक्ता शास्त्रे'**[5]। समावेश का व्युत्पत्त्यर्थ है—**"सम्यगावेशः"** अर्थात् पूर्णलीनता। इस प्रकार की लीनताएँ चार हैं—अनुपाय, शांभव, शाक्त तथा आणव। प्रारम्भ से चलने पर प्रत्येक पूर्ववर्ती हमें अपने परवर्ती तक पहुँचाती है। इस प्रकार प्रथम अनुपाय मुक्ति का साक्षात् मार्ग है या, दूसरे शब्दों में परम सत्य की उपलब्धि।

---

१. तन्त्रा० ८, पृ० १७३
२. तन्त्रा० ८, पृ० १६३
३. मुण्डक० ३-२-३
४. तन्त्रा० १, पृ० २०५
५. ई० प्र० वि० २, पृ० २५८

इस प्रकार आप देखते हैं कि मोक्ष की प्रक्रिया आभास की प्रक्रिया की ठीक विलोम है। आभास अन्तःस्थ से बाह्य स्फुटन का उपक्रम है जब कि मुक्ति है--बाह्यरूपेण व्यक्त भावजातों की अन्तर्लीनता। समावेश तुर्यातीत अवस्था का द्योतक है। यहाँ पहुँचकर प्रमेयता पूर्णतया शान्त हो जाती है और व्यक्ति अहन्तामात्र में विश्रान्त हो जाता है। देह से लेकर शून्य तथा विज्ञानाकल तक समग्र प्रमातृत्व का प्रह्वीभाव हो जाता है।[1]

समावेश की यह धारणा शिवाद्वयवाद तक ही सीमित नहीं। गीता भी कहती है, **"मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते"** (१२-२) तथा **"अथावेशयितुं चित्तं।"** (१२-९) इसी को योगानुशासन में स्वरूपावस्थान नाम से अभिहित किया गया है, **"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"**[2]। इस पर वृत्ति करते हुए भोजदेव कहते हैं **"द्रष्टुः पुरुषस्य तस्मिन् काले स्वरूपे चिन्मात्रतायामवस्थानं स्थितिर्भवति"**। योग में समावेश को समापत्ति भी कहा गया है।

उपदेशतत्त्व का तात्पर्य प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र से है।

तत्र स्वात्मदेवताया एव सर्वत्र कारणत्वं सुखोपायप्राप्यत्वं महाफलत्वं च अभिव्यंक्तुमाह—

चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः ॥१॥

'विश्वस्य'—सदाशिवादेः भूम्यन्तस्य, 'सिद्धौ निष्पत्तौ, प्रकाशने, स्थित्यात्मनि, परप्रमातृविश्रान्त्यात्मनि च संहारे, पराशक्तिरूपा 'चितिः' एव भगवती 'स्वतन्त्रा'—अनुत्तरविमर्शमयी शिवभट्टारकाभिन्ना 'हेतुः'—कारणम्।

स्वात्मदेवता ही सर्वत्र समस्त भावजातका कारण है, सरलतापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है और महाफल है, यह बताने के लिए कहा गया है :

स्वतन्त्र चिति ही (सृष्टिसंहाररूप) विश्व की सिद्धि में कारण है॥ १॥

विश्व—सदाशिव से लेकर धरणी तक—की सिद्धि या पूर्णता का, स्थितिरूप प्रकाशन का तथा परम प्रमाता शिव में विश्रान्तिरूप संहार का हेतु या कारण पराशक्तिस्वरूप ऐश्वर्यमयी चिति है जो 'स्वतन्त्र' है, अनुत्तर के विमर्श से युक्त है तथा शिवभट्टारक से भिन्न नहीं है।

चिति—'चिति' की धारणा क्षेमराज के मस्तिष्क की उपज तो नहीं कही जा सकती। इनके पूर्व ही इनके महान् गुरु अभिनव तथा उत्पल प्रत्यभिज्ञाजगत् में **'चितिः प्रत्यवमर्शात्मा'** आदि के द्वारा इसकी अवतारणा कर चुके थे, किन्तु

---

१. ई० प्र० वि० २, पृ० २५८

२. योग० १।३

विश्वप्रक्रिया में इसके मनोवैज्ञानिक स्वरूप के निर्धारण, नियोजन एवं उसके विशद निरूपण का श्रेय क्षेमराज को ही है।[1]

सदाशिव—शैवदर्शन के तत्त्व-सन्दोह में इस तत्त्व का तीसरा स्थान है। इसमें इच्छाशक्ति की प्रधानता रहती है। अनन्योन्मुखस्वात्मप्रकाशविश्रान्ति-स्वरूप अहन्तालक्षणा ज्ञानशक्ति का उद्रेक होने पर शिव ही सदाशिव रूप में व्यपदिष्ट किया जाता है, '**किंत्वान्तरदशोद्रेकात्सदाख्यं तत्त्वमादितः**'[2]। मन्त्र-महेश्वररूप शुद्ध चैतन्यवर्ग इस सदाशिव को विश्व उन्मीलितमात्र तथा चित्र की भाँति प्रतीत होता है[3]। भास्कर भी कहते हैं "**भावानान्तु स्तोकमिदन्तास्पर्श-रूपितया अहंतया ग्रहणं, यत्सर्वमिदं तदहमेव न त्विदमाख्यं किमपि वस्तु भवति एकस्यैव चिन्मात्रस्यैव सत्त्वात् इति**।"[4] सदाशिव को अन्तः-निमेष भी कहते हैं; क्योंकि इस स्थिति में पहुँच कर आरोहक्रम (संहारक्रम) में इदन्ता रूप में प्रतीत होने वाला यह जगत् अहन्ता में विलीन हो जाता है। इनके प्रमाता मन्त्र-महेश्वरों का अस्तित्व सार्वभौमिक होता है।

परमप्रमाता—परम शिव।[5]

पराशक्ति—पराशक्ति का प्रयोग क्षेमराज परमशिव की अव्यतिरिक्त शक्ति के लिए करते हैं। इसी शक्ति से युक्त होकर यह इस विश्व की सृष्टि एवं संहार कर सकता है, यह शक्ति देश तथा काल की परिधि से परे है तथा इनका 'परमार्थतः' कोई विवेचन नहीं किया जा सकता, न ही इसकी कोई संज्ञा रखी जा सकती है। यह तो केवल अनुभव-गम्य है। वह शिव में इतनी समाहित है कि शिव उसे भैरवी कहते हैं (**भैरवी भैरवात्मनः**[6])। जिस प्रकार अन्य क्षेत्रों में भी शक्ति तथा शक्तिमान् में कोई भेद नहीं, क्योंकि उसमें तो धर्म-धर्मी-सम्बन्ध है तथा जिस प्रकार वह्नि की दाहिका शक्ति वह्नि से व्यतिरिक्त नहीं उसी प्रकार क्षेमराज ने यहाँ भी उसको शिवभट्टारक से अभिन्न बतलाया है। जब इस शक्ति से युक्त होकर अणु शिव में समाविष्ट होता है तो वह शिवस्वरूप हो जाता है क्योंकि वह शिव की शैवी शक्ति है—"**पराशक्तिरूपामवस्थां यदा प्रविशति**······

---

१. देखिए भूमिका
२. ई० प्र० वि०२, पृ० २१७
३. ई० प्र० वि०२, पृ०१९२-९३
४. भा० पृ० २२६
५. भूमिका (परमार्थस्वरूप चर्चा)
६. वि० भै०, पृ०११

समाविशति उपदेश्योऽणुः, तदास्य निर्विभागेन भावना भवति शक्तेः शिवाभेदात्, तदा स लब्धशाश्वतबलः प्रशस्ततमः शिवरूपो भवत्येव यतः शिवस्येयं शैवी शक्तिः।"[1] जिस प्रकार आलोक के द्वारा दीपक को अपनी शिखा का और रवि को अपनी रश्मिजाल के द्वारा ही दिग्विभागादि का ज्ञान होता है, उसी प्रकार शिव को भी अपने स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान अपनी शक्ति के द्वारा ही होता है। यहाँ पर इस पराशक्ति को ही 'चिति' कहा गया है। और उसी को विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा संहार का हेतु बतलाया गया है, **"अस्यां हि प्रसरन्त्यां जगदुन्मिषति व्यवतिष्ठते च, निवृत्तप्रसरायां च निमिषति।"**

अनुत्तर—इसी "चिति" को अनुत्तरविमर्शमयी कहा गया है। यों तो सामान्यतया "अनुत्तर" तत्त्वातीत अवस्था मानी जाती है किन्तु कतिपय आचार्य इसे शाँभवदर्शन के अड़तीसवें तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं। तंत्रवटधनिकाकार कहते हैं—

"षड्त्रिंशत्तत्त्वपर्यायस्तदभिन्नः परः शिवः।
उपदेश्यतां सोऽपि स्यादवच्छेदभागतः॥
अष्टात्रिंशं परं धाम यदेकं विश्वकं स्फुरेत्॥"

भास्कर इसको 'वाच्यतासह' मानते हैं।[2] इसके इसी स्वभाव के कारण हमारी बाह्य अथवा आभ्यन्तर कोई भी इन्द्रिय यहाँ तक नहीं पहुँच सकती। केवल परमेश्वर की यह (चिति) शक्ति ही उसके आमर्श की क्षमता रखती है। अनुत्तर की इस धारणा के लिए प्रत्यभिज्ञा कौल-सम्प्रदाय का ऋणी है।

शिवभट्टारक—वस्तुतः भट्टारक आदरसूचक शब्द के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। भगवान् शिव के प्रति आदरसूचनार्थ शिव के साथ महाभट्टारक शब्द जोड़ दिया गया है। जैसा कि परमशिव आदि अन्य देवों के अभिधान के साथ किया जाता है। निस्सन्देह, परमशिव से इसका भेद-निरूपण इसी कृति में एक स्थान पर उपलब्ध होता है।[3]

अस्यां हि प्रसरन्त्यां जगत् उन्मिषति व्यवतिष्ठते च, निवृत्तप्रसरायां च निमिषति, इति स्वानुभव एव अत्र साक्षी। अन्यस्य तु मायाप्रकृत्यादेः चित्प्रकाशभिन्नस्य अप्रकाशमानत्वेन असत्त्वात् न क्वचिदपि हेतुत्वम्; प्रकाशमानत्वे तु

---

१. वि० भै०, वि० पृ० १४
२. भा० १ पृ० १५
३. प्र० हृ० अ० ला० पृ० २९ (भूमिका भी देखें)

प्रकाशैकात्म्यात् प्रकाशरूपा चितिरेव हेतुः न त्वसौ कश्चित् । अतएव देशकालाकारा एतत्सृष्टा एतदनुप्राणिताश्च नैतत्स्वरूपं भेत्तुमलम्; इति व्यापक-नित्योदितपरिपूर्णरूपा इयम्––इत्यर्थलभ्यमेव एतत् ।

यही चिति जब अपना विस्तार करती है तो विश्व का उन्मीलन और अवस्थान होता है तथा जब वह अपने विस्तार को रोक लेती है तो जगत् (भी) निमीलित हो जाता है । इसमें अपनी अनुभूति ही साक्षी है । माया एवं प्रकृति आदि दूसरी शक्तियाँ कहीं भी हेतु नहीं हो सकतीं,क्योंकि वे चित् (ज्ञान) के प्रकाश से भिन्न हैं । अतः अप्रकाशित होने का कारण वास्तविक नहीं है । (यदि उन्हें) प्रकाशमान मानें तो प्रकाश से (उनका) अभेद होने के नाते प्रकाशरूप चिति ही कारण हो सकेगी (और कोई नहीं) । अतएव देश-काल एवं आकार, जिनकी सृष्टि इसी (चिति) के द्वारा हुई है तथा जो इसी से अनुप्राणित है, इसके स्वरूप को परिच्छिन्न नहीं कर सकते । अतः अर्थतः सिद्ध है कि यह चिति व्यापक सदोदित तथा परिपूर्ण है।

माया––माया अशुद्धाध्व की सर्वप्रथम अवस्था है । यह परमशिव की सबसे अधिक भेदकरी शक्ति है जो बिना किसी प्रकाश के अनेकता का प्रकाशन किया करती है ।

"माया च नाम देवस्य शक्तिरव्यतिरेकिणी ।
भेदावभासस्वातन्त्र्यं तथा हि स तया कृतः ।"[1]

माया की कल्पना दो रूपों में उपलब्ध होती है–तत्त्वरूप में तथा शक्ति-रूप में । इसके अतिरिक्त इसकी दो अन्य रूपों में भी कल्पना की गयी है । एक तो तिरोधानकारिणी शक्ति के रूप में "तिरोधानकरी मायाभिधा पुनः"[2] दूसरे, सीमित और अपूर्ण आभासों के मूलकारण के रूप में । महार्थमंजरीकार कहते हैं––

"एकरसे स्वभावे उद्भावयन्ती विकल्पशिल्पानि ।
मायेति लोकमतः परमस्वतन्त्रस्य मोहिनी शक्तिः ॥"

अभिनव भी अपने स्तोत्रों में यत्र-यत्र इसके तिरोधानकारी रूप की ओर संकेत करते हुए प्रतीत होते हैं––

त्वग्रुधिरमांसमेदोमज्जास्थिमये सदामये काये ।
माये मज्जयसि त्वं माहात्म्यं ते जनानजानानान् ॥[3]

१. तन्त्रा०६, पृ० १०६
२. ई० प्र० वि०१, पृ० २३१
३. र० पं० ॥ ६ ॥

अपने आवरणस्वभाव के कारण इसे मोह भी कहा गया है--**"मोहयति अनेन शक्तिविशेषेण इति वा मोहो माया शक्तिः।"**[१] यह विमोहन न केवल प्रमाता को अपितु प्रमेय को भी होता है; अर्थात् वेद्यभावोचित आत्मेतरपदार्थ की अहन्तया अनुभूति में, "मैं दूर्बल हूं" "मैं जानता हूं" आदि रूपों का अभिमान होता है, और अनात्मस्वरूप को आत्मतया देखने में। इन दोनों अवस्थाओं में वह मोह ही है। अभिनव यहाँ शून्य, बुद्धि, काया आदि अनात्म पदार्थों में अहंरूप प्रमाता के भाव को ही लेते हैं। यही कहलाती है स्वरूपाख्याति अथवा स्वातंत्र्य-संकोच। इसके लिए इसे कंचुपञ्चक की सहायता लेनी पड़ती है। विकल्प शिल्पों की उद्भाविका होने के नाते इसे परानिशा भी कहते हैं।

"गर्भीकृतानन्तभावविभासा सा परा निशा ॥"[२]

वस्तुरूप में माया परिमित है, क्योंकि परमशिव से भिन्न यत्किञ्चित् भासित होता है वह परिमेय ही होता है। माया का प्रकृत्यर्थ भी है–**"मीयते परिच्छिद्यते प्रमातृप्रमेयप्रपंचः यया सा माया।"** इस मेयता का अपरिहार्य परिणाम है: भिन्न प्रथन। इसीलिए **"विभिन्नतया बुद्धिरेव माया"** कहा गया है।

इस प्रकार माया का विजृंभण विषय तथा विषयी के क्षेत्र में चला करता है और वेत्ता भी उससे अछूता नहीं रह पाता। डा०पाण्डेय तो माया के इस सिद्धान्त को आवश्यक तथा युक्ति-संगत बताते हैं। इसका कारण वह यह बताते हैं कि यदि परमशिव चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, तथा क्रिया-रूप पाँचों गुणों से युक्त होने के नाते सर्वात्मना पूर्ण है तथा विश्व का उसके साथ तादात्म्य है तो सीमित सत्ताओं तथा उनकी सीमाओं का जन्म कहाँ से होता है, तथा परिच्छिन्न सृष्टि, जो कि सीमित प्रमाताओं की अनुभूति का विषय बनती है उसका कारण क्या है? इन सभी गुत्थियों को सुलझाने के लिए ही माया को विमोहन-शक्ति कहा जाता है। क्षेमराज को माया की यह धारणा अपने गुरु अभिनव से मिली जो अपना आधार "मालिनीविजय-तन्त्र" बतलाते हैं–

"सा यद्यपि अन्यशास्त्रेषु बहुधा दृश्यते स्फुटम्।
तथापि मालिनीशास्त्रदृशा तां संप्रचक्ष्महे ॥[३]

प्रकृति–प्रथनक्रम में 'प्रकृति' अथवा प्रधान सर्वप्रथम विषयगत प्रथन है। त्रिक-कार्यकारणभाव के अनुसार यह कला का प्रथम स्फुट वेद्यमात्र विषय है,

---

१. ई० प्र० वि० १, पृ० ३५
२. तन्त्रा० ६ पृ,० ११६
३. तन्त्रा० ६ पृ,० १२६

"वेद्यमात्रं स्फुटं भिन्नं प्रधानं सूयते कला"[1]। यह गुणत्रय की पूर्ण साम्यावस्था का प्रतिनिधित्व करती है। अपने भावी विषयों की दृष्टि से (भाविविषयापेक्षया) इसे वेद्यसामान्य कहा जाता है। असंख्य पुरुषों की भाँति यह भी असंख्य है क्योंकि प्रत्येक पुरुष की एक पृथक् प्रधान होती है (**तच्च प्रति पुम् नियतत्वात् अनेकम्**)[2]। पुरुष के लिए प्रसूतिक्रिया में स्वतन्त्रेश अथवा अनन्त की प्रेरणा पर ही यह प्रवृत्त होती है।

ननु जगदपि चितो भिन्नं नैव किञ्चित्। अभेदे च कथं हेतुहेतुमद्भावः? उच्यते—चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरतीत्येतावत् परमार्थोऽयं कार्यकारणभावः। यतश्च इयमेव प्रमातृप्रमाणप्रमेयमयस्य विश्वस्य सिद्धौ प्रकाशने हेतुः ततोऽस्याः स्वतन्त्रापरिच्छिन्नस्वप्रकाशरूपायाः सिद्धावभिनवार्थप्रकाशनरूपं न प्रमाणवराकमुपयुक्तमुपपन्नं वा। तदुक्तं त्रिकसारे—

"स्वपदा स्वशिरश्छायां यद्वल्लङ्घितुमीहते।
पादोद्देशे शिरो न स्यात् तथेयं बैन्दवी कला॥" इति

(यदि कोई यह कहे) विश्व भी चिति से कोई भिन्न वस्तु नहीं है। अभिन्न वस्तुओं में कार्य-कारणभाव कैसा?

(इसका उत्तर यह है) स्वच्छ (मलत्रय-रहित) तथा स्वतन्त्र भगवती चिति ही तत्कालीन अनन्त विश्व के रूप में प्रस्फुरित होती है। अतः यह कार्यकारणभाव वास्तविक है, क्योंकि यही (चिति ही) प्रमाता, प्रमाण तथा प्रमेय रूप विश्व की सिद्धि अर्थात् प्रकाश में कारण है। अतः इस स्वतन्त्र अपरिच्छिन्न तथा स्वप्रकाशस्वरूप (चिति की) सिद्धि में कोई भी इस प्रकार का प्रमाण न तो उपयुक्त है और न उपपन्न। जैसा कि त्रिकसार में कहा गया है–

"जिस प्रकार अपने ही पैरों से अपनी छाया को पार करना चाहने वाले का सिर उसके पैर की ओर कभी नहीं आ सकता है, उसी प्रकार यह बैंदवी कला भी है।"

त्रिकसार–इस ग्रन्थ का उल्लेख "शिवसूत्रविमर्शिनी" में क्षेमराज ने ही "त्रिकहृदय" नाम से किया है, क्योंकि वहाँ भी यही उद्धरण लगभग इसी प्रकार के प्रसंग में उद्धृत किया हुआ प्रतीत होता है। अतः यह कहना असंगत होगा कि त्रिकहृदय तथा त्रिकसार दो विभिन्न ग्रन्थों के नाम हैं।

---

१. तन्त्रा० ६ पृ० १७१
२. तन्त्रा० ६ पृ० १७२

बैन्दवी कला–इसकी व्युत्पत्ति बिन्दु से मानी जा सकती है। बिन्दु कहते हैं उस किरण को जो शरीर ब्रह्माण्ड के मध्यरन्ध्र में स्थित होती है और शिव तत्त्व से तादात्म्य रखती है। अतः इसका महत्त्व शिव तत्त्व से कम नहीं। "कला" शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग होता है। क्षेमराज शिवसूत्रविमर्शिनी में इसका प्रयोग "तत्त्व" के अर्थ में करते हैं, "तत्र याः पृथिव्यादिशिवान्ततत्त्वरूपाः कलाभागाः' किन्तु यहाँ उसका प्रयोग "तत्त्व" के अर्थ में नहीं किया गया। कभी-कभी इसको स्वातन्त्र्यशक्ति के रूप में भी लिया जाता है। आयंगर अपने शिवसूत्रविमर्शिनी के अनुवाद में इसका शब्दानुवाद "चन्द्र की किरण" करते हैं जिसका अभिप्राय वह "चेतन" से लेते हैं तथा उसको अन्तिम वस्तुसत्य मानते हैं।[२]

यतश्च इयं विश्वस्य सिद्धौ पराद्वयसामरस्यापादनात्मनि च संहारे हेतुः तत एव स्वतन्त्रा। प्रत्यभिज्ञातस्वातन्त्र्या सती भोगमोक्षस्वरूपाणां विश्वसिद्धीनां हेतुः इति आवृत्त्या व्याख्येयम्। अपि च विश्वं नीलसुखदेहप्राणादि; तस्य या सिद्धिः प्रमाणोपारोहक्रमेण विमर्शमयप्रमात्रावेशः सैव हेतुः परिज्ञाने उपायो यस्याः। अनेन च सुखोपायत्वमुक्तम्। यदुक्तं श्री विज्ञानभट्टारके—

"ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम्।
योगिनां तु विशेषोऽयं सम्बन्धे सावधानता॥" इति

चूँकि यह (चिति) विश्व की सिद्धि (पूर्णता-प्राप्ति) तथा पराद्वय (शिव एवं शक्ति) से तादात्म्यस्वरूप संहार में कारण है, अतएव स्वतन्त्र है। (इसके) स्वातन्त्र्य का प्रत्यभिज्ञान हो जाने पर ही (यह) भोगमोक्षस्वरूप विश्वसिद्धियों का हेतु होती है। इसी रूप में (सूत्र की) आवृत्ति करके (इसका) विवेचन करना चाहिए। अथच नील, सुख, देह, प्राण आदि विश्व हैं। उस (प्रकार के विश्व) की सिद्धि का (अभिप्राय) विमर्शमय प्रमाता में आवेश है, क्योंकि यह प्रमाणों के विकासात्मक क्रम की बाद की स्थिति है।

वही सिद्धि हेतु, अर्थात् चिति के परिज्ञान का साधन है। इस प्रकार इसे सरल उपाय बताया गया है। जैसा "श्री विज्ञानभट्टारक" में कहा गया है—

"ग्राह्य एवं ग्राहक (इदम् और अहम्) का (अस्तित्व-सम्बन्धी) परिज्ञान सभी देहधारियों में सामान्य होता है। पर (इन दोनों के) सम्बन्ध में सावधानता योगियों की विशेषता होती है।"

---

१. शि० सू० वि० पृ० ७८

२. प्र० हृ० अ० ला०, टिप्पणी २५

चितिरित्येकवचनं देशकालाद्यनवच्छिन्नतामभिदधत् समस्तभेदवादानाम-वास्तवतां व्यनक्ति । स्वतन्त्रशब्दो ब्रह्मवादवैलक्षण्यमाचक्षाणः चितो माहेश्वर्य-सारतां ब्रूते । 'विश्व' इत्यादिपदं अशेषशक्तित्वं सर्वकारणत्वं सुखोपायत्वं महाफलं चाह ॥१॥

"चिति" में एक वचन का प्रयोग इसका देशकालादि से अपरिच्छिन्नत्व सूचित करता हुआ समस्त भेदवादों का मिथ्यात्व प्रकट करता है । "स्वतन्त्र" शब्द ब्रह्मवाद (वेदान्त) से इस दर्शन का भेद स्पष्ट करता हुआ चिति के ऐश्वर्यपरमार्थ पर प्रकाश डालता है । 'विश्व' आदि पद इस बात के परिचायक हैं कि यह चिति अनन्तशक्ति से युक्त है, इसमें सभी पदार्थों के कारण होने की क्षमता है तथा यह सरल उपाय है और महाफल है ॥१॥

अपरिच्छिन्नत्व—चिति की "देशकालाद्यनवच्छिन्नत्वरूप" में कल्पना क्षेमराज की कोई नवीन कल्पना नहीं । उत्पल ने भी उसे 'देशकालाविशेषिणी' माना था । इसी बात को स्पष्ट करते हुए अभिनव कहते हैं कि इसको देश तथा काल की परिधि से परे कहकर इसके विभुत्व तथा नित्यत्व की पुष्टि की गयी है । देश तथा काल के समस्त स्पर्श भी उसीके निर्माण के परिणाम हैं। अतः यह उनसे भी अधिक व्यापक है । "एवं देशकालास्पर्शात् विभुत्वं नित्यत्वं च, सकलदेशकालास्पर्शोऽपि तन्निर्माणयोगात् इति ततोऽपि व्यापकत्वनित्यत्वे ।"[1] इसी लिए इसको 'महासत्ता', 'महादेवी' तथा 'विश्वजीवन' कहा गया है । यहाँ पर इसका प्रयोग, जैसा कि व्याख्या से स्पष्ट है, समस्त भेदभावों के मन्तव्य का अपलाप करने के लिए हुआ है । यदि देशकाल इत्यादि भी इसी के निर्माण के फलीभूत हैं तो फिर अनेक वादों की क्या बात ? इसके अतिरिक्त 'चिति' का एक-वचनान्त होना भी इसी बात का द्योतक है । केवल 'चिति' ही एक शक्ति है जिसके द्वारा विश्व का सर्जन एवं संहार होता है । यह अनन्यापेक्ष है, अतः, स्वभावतः अन्य वादों का कोई महत्त्व नहीं ।

भेदवाद—इस स्थल पर तथा अगले सूत्र में भेदवादियों की ओर कृतिकार की विरोधात्मक प्रवृत्ति का पता चलता है । यह भेदवादी कौन थे इसके विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता । भेदवादी कहने में कृतिकार का संकेत सांख्य की ओर है, विशिष्टाद्वैत की ओर अथवा द्वैतवादी अन्य शैवदर्शनों की ओर, इसके बारे में हम कुछ भी नहीं कह सकते । किन्तु क्षेमराज की वृत्ति से ऐसा ध्वनित होता है कि इसके द्वारा उनका अभिप्राय सभी भेदवादियों की ओर है, "समस्तभेदवादानामवास्तवतां व्यनक्ति ।" कुछ भी हो, क्षेमराज शिवाद्वयवाद

१. ई० प्र० वि० १, पृ० २६१

के कुछ इने-गिने आचार्यों में होने के नाते द्वैतवादियों के घोर विरोधी प्रतीत होते हैं। हो सकता है कि उनके आक्रमण का बिन्दु द्वैतवादी शैवदर्शनों की ओर ही रहा हो। आगमसम्मत द्वैतवादी शैवदर्शन शिव तथा शक्ति को पृथक् सत्ताएँ मानता था। इसी का विरोध करने के लिए तथा अद्वयवादी विचारों की स्थापना के लिए ही शिव ने वसुगुप्त को 'शिवसूत्रों' का उपदेश किया।

ब्रह्मवाद—ब्रह्मवाद कहने से क्षेमराज का अभिप्राय वेदान्त से है। वेदान्तियों का ब्रह्म "उदासीन" (विमर्शरहित) होता है जबकि शिवाद्वयवादी का शिव सविमर्श (क्रियाशील) होता है। यही दोनों का मुख्य भेद है। इसी भेद को स्पष्ट करने के लिए 'चिति' को 'स्वतन्त्रा' कहा गया है। इस प्रकार उसकी माहेश्वर की सारभूतता भी सिद्ध हो जाती है। उत्पल भी **"सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः"** कहकर इसी बात को दृढ़ करते हैं।

ननु विश्वस्य यदि चितिः हेतुः तदस्या उपादानाद्यपेक्षायां भेदवादापरित्यागः स्यादित्याशङ्क्याह—

स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ॥२॥

'स्वेच्छया' न तु ब्रह्मादिवदन्येच्छया। तयैव च न तु उपादानाद्यपेक्षया। एवं हि प्रागुक्तस्वातन्त्र्यहान्या चित्त्वमेव न घटेत। 'स्वभित्तौ' न तु अन्यत्र क्वापि। प्राक् निर्णीतं 'विश्वं' दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव 'उन्मीलयति'। उन्मीलनं च अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणं इत्यनेन जगतः प्रकाशैकात्म्येनावस्थानमुक्तम् ॥२॥

यदि चिति को विश्व का हेतु मान भी लें, तो इसके उपादान कारण आदि की अपेक्षा होने के कारण भेदवाद का परित्याग कैसे करेंगे, इसी आशंका से कहते हैं—

(चिति) अपनी इच्छा से अपनी भित्ति पर विश्व का उन्मीलन करती है ॥२॥

अपनी इच्छा से, (वेदान्तियों के) ब्रह्मादि की भाँति दूसरे की इच्छा से नहीं। वही अपनी इच्छा से, न कि उपादानादि की सहायता से। इस स्थिति में (उपादानादि की अपेक्षा) पूर्वोक्त, स्वातन्त्र्य की हानि के कारण (स्वतन्त्र) चिति की सिद्धि नहीं हो सकेगी। अपनी भित्ति पर ही, और कहीं नहीं। पूर्वनिर्णीत (वस्तुतः चिति से) अभिन्न होते हुए दर्पण में नगर की भाँति उससे भिन्न प्रतीत होने वाले विश्व का उन्मीलन करती है।

पूर्वतः विद्यमान का ही प्रकटीकरण उन्मीलन है, अतः यह गतार्थ है कि जगत् प्रकाश के साथ एकात्मना अवस्थित है । ॥२॥

इच्छा—जैसा कि वृत्ति में स्पष्ट हो जाता है चिति अपनी इच्छा से ही विश्व का उन्मीलन करती है, वेदान्तियों के ब्रह्मादि की भाँति दूसरे अर्थात् माया की इच्छा से नहीं । ब्रह्म 'शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव' होने के कारण उदासीन होता है । जबकि चिति परमेश्वर की शक्ति होने के नाते विश्व के विधान में स्वतन्त्र होती है ।

भित्ति—भारत में कठपुतलियों के खेल की प्रथा अति प्राचीन है । यहाँ पर क्षेमराज के मस्तिष्क में वही चित्र, सम्भवतः, विद्यमान था । चिति को उस नट से समीकृत किया गया है जो पर्दे के पीछे से उन पुत्तलिकाओं में गति उत्पन्न करता रहता है । शिवसूत्रकार की कल्पना तो और भी अपूर्व है । वह स्वयं चिदात्मा को ही नर्तक मानते हैं, "**नर्तक आत्मा**" । क्षेमराज अपनी विमर्शिनी में इसकी विशद व्याख्या करते हुए कहते हैं, "**नृत्यति, अन्तर्विगूहति स्वस्वरूपावष्टम्भमूलं तत्र जागरादि नानाभूमिकाप्रपञ्चं स्वपरिस्पन्दलीलयैव स्वभित्तौ प्रकटयति इति नर्तक आत्मा ।**"[1] भट्टनारायण तो इस संसार को एक नाटक मानते हैं, "**विसृष्टाशेषसद्बीजगर्भं त्रैलोक्यनाटकम् ।**" उस नाटक का प्रारम्भ करके शिव ही उसको समाप्त भी कर देता है । इस नाटक की प्रेक्षक हैं हमारी इन्द्रियाँ, "**प्रेक्षकेन्द्रियाणि**" ।[2] श्रुति भी कहती है, "**कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमश्नन् ।**"[3] सांख्य का सूक्ष्म शरीर भी नट की भाँति आचरण करता है, "**नटवदवतिष्ठते लिंगम्**"[4] तथा प्रकृति नर्तकी की भाँति विभिन्न हावभाव दिखाकर विश्राम लेती है ।[5] चटर्जी महोदय स्वभित्तौ का अर्थ शिव का अन्तरतम लेते हैं ।

इस प्रकार लोक से उपमाएँ लेकर परमेश्वर के कार्यकलापों का वर्णन प्रत्यभिज्ञाशास्त्र की अपनी विशेषता है ।

दर्पण—दर्पण तथा नगर की उपमा भी दर्शन-जगत् में बहुत अधिक प्रचलित है । इससे अद्वैतवादी विचारधारा को बल मिलता है । यह विश्व और कुछ

---

१. शि० सू० वि०, पृ० ८९
२. शि० सू० ॥११॥
३. कठ० २।४।१
४. सा० का०, ४२
५. सा० का०, ५९

नहीं, उस परमात्मा का प्रतिबिम्ब मात्र है जो उसमें अभिन्न होता हुआ भी भिन्न प्रतीत होता है। इसी बात को अभिनव दूसरे ढंग से कहते हैं,

"राहुरदृश्योऽपि यथा, शशिबिम्बस्थः प्रकाशते तद्वत्।
सर्वगतोऽप्यात्मा विषयाश्रयेण धीमुकुरे॥"[1]

दर्पण को अपने प्रतिबिम्ब को प्रतिभासित करने के लिए बाह्य प्रकाश की अपेक्षा होती है जबकि शिव तो स्वयं प्रकाशैकघन है, वह तो स्वयं सबका प्रकाशक है। जिस प्रकार दर्पण का प्रतिबिम्ब दीपक से व्यतिरिक्त नहीं उसी प्रकार यह विश्व भी जगदात्मा शिव से भिन्न नहीं। जब उसी का वह उन्मीलन करता है तभी उसकी भिन्नवत् प्रतीति होती है।

अथ विश्वस्य स्वरूपं विभागेन प्रतिपादयितुमाह—

तन्नाना अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात् ॥३॥

तत् विश्वं नाना अनेकप्रकारम्। कथं? अनुरूपाणां परस्परौचित्यावस्थितीनां ग्राह्याणां ग्राहकाणां च भेदात् वैचित्र्यात्। तथा च सदाशिवतत्त्वे अहन्ताच्छादितास्फुटेदन्तामयं यादृशं परापररूपं विश्वं ग्राह्यं तादृगेव श्रीसदाशिवभट्टारकाधिष्ठितो मन्त्रमहेश्वराख्यः प्रमातृवर्गः परमेश्वरेच्छावकल्पिततथावस्थानः।

विभाग द्वारा विश्व के स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—
(यह विश्व) परस्पर सम्बद्ध ग्राह्य-ग्राहक के भेद से अनेक रूपों में (भासित होता) है ॥३॥

वह विश्व नाना अर्थात् अनेक प्रकार का है। कैसे? अनुरूप अर्थात् परस्पर उचित रूप से सम्बद्ध ग्राह्य-ग्राहक के भेद से, अर्थात् वैचित्र्य से। उदाहरणतः सदाशिवतत्त्व में अहन्ता से आच्छादित तथा अस्फुट इदन्तामय जैसा परापररूप विश्व है, वैसा ही मन्त्रमहेश्वर नामक प्रमातृवर्ग भी है, जिसके अधिष्ठातृदेवता श्रीसदाशिव भट्टारक हैं। मन्त्रमहेश्वरों का यह अवस्थान परमेश्वर की इच्छा से ही होता है।

मन्त्रमहेश्वर सदाशिव-तत्त्व के प्रमाता हैं। उनकी सत्ता सार्वभौमिक है, और, चूँकि वह आणव मल से पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं, अतः इनकी अनुभूति बिना किसी विषयगत (इदन्ता) सम्बन्ध के नहीं होती। इतना अवश्य है कि

---

१. प० सा० का० ८

इनके द्वारा अनुभूत विषय और कुछ नहीं अपितु इन्हीं के विषयों का विकसित स्वरूप है तथा इनसे व्यतिरिक्त नहीं, "सर्वस्यास्य अव्यतिरेकेण"।[1]

ईश्वरतत्त्वे स्फुटेदन्ताहन्तासामानाधिकरण्यात्म यादृक् विश्वं ग्राह्यं तथाविध एव ईश्वरभट्टारकाधिष्ठितो मन्त्रेश्वरवर्गः। विद्यापदे श्रीमदनन्तभट्टारकाधिष्ठिता बहुशाखावान्तरभेदभिन्ना यथाभूता मन्त्राः प्रमातारः तथाभूतमेव भेदैकसारं विश्वमपि प्रमेयम्।

ईश्वर तत्त्व में स्फुट इदन्ता तथा अहन्ता का सामानाधिकरण्यरूप जैसा यह विश्व अथवा ग्राह्य है, उसी भाँति मन्त्रेश्वर वर्ग है जिसके अधिष्ठातृदेव हैं ईश्वरभट्टारक। विद्यातत्त्व में जिस प्रकार मन्त्रवर्ग प्रमाता है, जिसके अधिष्ठातृदेव श्रीमान् अनन्तभट्टारक हैं, तथा जो अनेक शाखाओं के कारण नाना भेदों से युक्त हैं, उसी प्रकार विश्व (उनका) प्रमेय भी है (जो विश्व के सभी गुणों से युक्त होते हुए भी) भेद को ही अपना एकमात्र स्वरूप समझता है।

मन्त्रेश्वर—मन्त्रेश्वर ईश्वर-तत्त्व के प्रमाता हैं। इनकी अनुभूति में विषय (इदन्ता) की प्रधानता रहती है। यहाँ प्रथमस्थान "अहमिदम्" को नहीं अपितु "इदमहम्" को दिया जाता है।

ईश्वर भट्टारक—ईश्वर भट्टारक ईश्वर-तत्त्व के अधिष्ठातृ देवता हैं। सम्भवतः विषय (प्रमेय) की प्रधानता प्रदर्शित करने के लिए ही इस तत्त्व को ईश्वर-तत्त्व कहते हैं क्योंकि इसमें इस अधिष्ठातृदेव के ऐश्वर्य को प्रकट करने वाले पदार्थों का अधिक महत्त्व प्रतीत होता है अपेक्षाकृत इसके अपने स्वरूप के।

मन्त्र—सद्विद्या तत्त्व के प्रमाता होने के नाते मन्त्रवर्ग के प्रमाता अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। अन्य प्रमाताओं से इनका प्रधान अन्तर यह है कि ध्वंस प्रक्रिया में आणवमल की चार अवस्थाओं से इनका सम्बन्ध प्रथम अवस्था—किंचिदध्वस्यमानावस्था से है। अनन्तभट्टारक इसके अधिष्ठातृदेव हैं।

मायोर्ध्वे यादृशा विज्ञानाकलाः कर्तृताशून्यशुद्धबोधात्मानः तादृगेव तदभेदसारं सकलप्रलयाकलात्मकपूर्वावस्थापरिचितमेषां प्रमेयम्। मायायां शून्यप्रमातॄणां प्रलयकेवलिनां स्वोचितं प्रलीनकल्पं प्रमेयम्। क्षितिपर्यन्तावस्थितानां तु सकलानां सर्वतो भिन्नानां परिमितानां तथाभूतमेव प्रमेयम्। तदुत्तीर्णशिवभट्टारकस्य प्रकाशैकवपुषः प्रकाशैकरूपा एव भावाः। श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्णविश्वात्मकपरमानन्दमयप्रकाशैकघनस्य एवंविधमेव शिवादिधरण्यन्तमखिलं अभेदेनैव स्फुरति। न तु वस्तुतः अन्यत् किंचित् ग्राह्यं ग्राहकं वा।

---

१. ई० प्र० वि० १, पृ० ३६

अपि तु श्रीपरमशिवभट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरतीति अभिहित-प्रायम् ॥३॥

मायातत्त्व से परे जिस प्रकार कर्तृत्व से शून्य तथा शुद्ध बोधात्मा विज्ञानाकल हैं, उसी प्रकार उनका प्रमेय भी है, जो उनसे अभिन्न है, तथा "सकल" और "प्रलयाकल" रूप अपनी पूर्व अवस्थाओं से अनुवासित होता है। माया तत्त्व में शून्य प्रमाताओं के लिए जो "प्रलयकेवली" कहे जाते हैं प्रमेय उनके अनुरूप प्रलीन जैसा होता है।

धरणी पर्यन्त अवस्थित परिमिति एवं सर्वतः भिन्न "सकलों" का प्रमेय भी उसी प्रकार (प्रलयकेवलिनों की भाँति) का होता है। उससे (उक्त प्रमेय से) उत्तीर्ण प्रकाशैकस्वरूप शिवभट्टारक के भाव (भी) प्रकाश-रूप ही हैं। इसी प्रकार विश्वोत्तीर्ण, विश्वस्वरूप परमानन्दमय, तथा प्रकाशैकघन श्रीमान् परमशिव का, शिव से लेकर क्षिति पर्यन्त निखिल जगत् (उनसे) अभिन्न रूप में ही विस्फुरित होता है। (और यह) ग्राह्य एवं ग्राहक, वस्तुतः, और कुछ नहीं है प्रत्युत श्रीपरमशिव भट्टारक ही (अपने को) इस प्रकार विभिन्न एवं सहस्रों रूपों में प्रस्फुरित करते हैं। यही पूर्वोक्त कथन का सार है ॥३॥

विज्ञानाकल—इस दर्शन के अनुसार सृष्टि दो प्रकार की है—शुद्ध तथा अशुद्ध (शुद्धाध्व तथा अशुद्धाध्व अथवा शुद्धेतराध्व)।

"शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभुः"।[1]

माया से लेकर वसुधा तक की सृष्टि शुद्धेतराध्व कहलाती है। तथा शिव से लेकर शुद्धविद्या तक की सृष्टि शुद्धाध्व क्योंकि इस अध्वन् के प्रमातृगण सार्वभौमिक-सत्ता-सम्पन्न हैं; जो विश्व की अनुभूति दूसरे रूप से करते हैं, किन्तु सभी प्रकार की सीमाओं से मुक्त रहते हैं। ये प्रमाण आठ हैं। जिनमें से पाँच तो शुद्धाध्व से सम्बन्धित हैं, दो शुद्धेतराध्व से तथा एक की स्थति दोनों के मध्य में है। इन प्रमाणों का एक दूसरे से पृथक्करण आणव, कार्म तथा मायीय मलों से किसी एक अथवा अधिक से युक्त जीवात्मा के द्वारा होता है। शुद्ध अध्वन् के मध्य स्थित प्रमाताओं को ही विज्ञनाकल कहते हैं। उत्पल कहते हैं,

"बोधादिलक्षणैक्येऽपि तेषामन्योन्यभिन्नता।
तथेश्वरेच्छाभेदेन ते च विज्ञानकेवलाः॥"[2]

---

१. तन्त्रा० ६, पृ० ५६
२. ई० प्र० वि० पृ० २५७

ये केवल आणव मल से युक्त होते हैं—

निष्कर्मा हि स्थिते मूलमलेऽप्यज्ञाननामनि ।
वैचित्र्यकारणाभावान्नोर्ध्वं सरति नाप्यधः ॥
केवलं घटमित्येव शिवाभेदमसंस्पृशन् ।
विज्ञानकेवली प्रोक्तः शुद्धचिन्मात्रसंस्थितः ॥[1]

इनके विभाजन के विषय में विद्वानों में मतभेद है। वर्वेट के अनुसार इसमें तीनों प्रमाता मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर तथा मन्त्र अंतर्भूत किये जा सकते हैं। यद्यपि यह अवतरण विज्ञानाकल की इस धारणा से भेद रखता हुआ प्रतीत होता है किन्तु वह भणिति-वैचित्र्य के कारण हो सकता है। वैसे क्षेमराज अपने गुरु अभिनव के ही अनुयायी प्रतीत होते हैं।

सकल—इसका सम्बन्ध शुद्धेतराध्व से है। प्रत्येक मानव सृष्टिदशा में सकल रहता है; क्योंकि इस स्थिति में उसमें तीनों मल विद्यमान रहते हैं। ये प्रलयाकल के आश्रित रहते हैं किन्तु इनके शरीरावयव इस स्थिति में भी बचे रहते हैं।

प्रलयाकल—प्रलयाकल अथवा प्रलयकेवली वे प्रमाता होते हैं जिनके शरीरावयव प्रलयावस्था में नष्ट हो जाते हैं। प्रत्येक मानव प्रलयावस्था में प्रलयकेवली हो जाता है क्योंकि प्रलयावस्था में उसका नाशवान् शरीर नहीं रहता जिसके साथ मायीय मल का सम्बन्ध रहता है। इस प्रकार प्रलयाकल केवल दो मलों (आणव तथा कार्म) से युक्त होते हैं। ये शून्य प्रमाता होते हैं क्योंकि इनका जगत् प्रलयावस्था में रहता है, **"शून्याद्यबोधरूपास्तु कर्तारः प्रलयाकलाः।"** उत्पल तो इनमें विकल्प रूप से मायीय मल भी मानते हैं, **"मायीयस्तु विकल्पतः।"**[2] किन्तु अभिनव उसके कारण का निर्देश करते हुए कहते हैं चूंकि इनकी भिन्न-वेद्यप्रथा संवेद्य सुषुप्त काल में ही होती है अपवेद्यकाल में नहीं इसलिए मायीयमल इनमें विकल्प रूप से ही होता है।[3]

प्रकाश—प्रकाश शब्द का प्रयोग अन्तःस्थ सत्ता के उस स्वरूप के लिए होता है जो इसके आभास-जाल के अधिष्ठान का काम देता है ठीक उसी प्रकार जैसे कि बुद्धि किसी व्यक्ति के कल्पना-काल में उसकी कल्पनाओं का आधार बनती है। और विमर्श कहते हैं उस शक्ति को जो उसी सत्ता (शिव) में पूर्व-

१. तन्त्रा० ६, पृ० ७७
२. ई० प्र० वि०, २ पृ० १५२
३. ई० प्र० वि०, २ पृ० १५२

स्थित पदार्थों के अवभासन में सहायक होती है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या ये भास्यमान तथा प्रतिभासित पदार्थ प्रकाश तथा विमर्श से भिन्न हैं और इस प्रकार विश्वात्मा से पृथक् हैं ? इसके लिए त्रिक का उत्तर होगा कि भास्यमान और इस प्रकार स्वभावतः प्रतिभासित पदार्थ भी प्रकाश ही हैं—

"प्रकाशात्मा प्रकाश्योऽर्थो नाप्रकाशश्च सिद्धयति"।[1]

यथा च भगवान् विश्वशरीर : तथा—

चितिसंकोचात्मा चेतनोऽपि संकुचितविश्वमयः ॥४॥

श्रीपरमशिवः स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वं सदाशिवाद्युचितेन रूपेण अवबिभासयिषुः पूर्वं चिदैक्याख्यातिमयानाश्रितशिवपर्यायशून्यातिशून्यात्मतया प्रकाशाभेदेन प्रकाशमानतया स्फुरति। ततः चिद्रसाश्यानतारूपाशेषतत्त्वभुवनभावतत्तत्प्रमात्राद्यात्मतयापि प्रथते। यथा च एवं भगवान् विश्वशरीरः, तथा 'चितिसंकोचात्मा' संकुचितचिद्रूपः, 'चेतनो' ग्राहकोऽपि वटधानिकावत् संकुचिताशेषविश्वरूपः। तथा च सिद्धान्तवचनम्—

"विग्रहो विग्रही चैव सर्वविग्रहविग्रही।" इति।

त्रिशिरोमतेऽपि—

"सर्वदेवमयः कायस्तं चेदानीं श्रृणु प्रिये।
पृथिवी कठिनत्वेन द्रवत्वेऽम्भः प्रकीर्तितम् ॥"

इत्युपक्रम्य,

"त्रिशिरोभैरवः साक्षाद्व्याप्य विश्वं व्यवस्थितः।"
इत्यन्तेन ग्राहकस्य संकुचितविश्वमयत्वमेव व्याहरति ॥

तथा जिस प्रकार भगवान् (शिव) विश्वशरीर हैं उसी प्रकार—

चिति के संकुचित हो जाने पर विश्वमय चेतन भी संकुचित हो जाता है ॥४॥

अपने से अभिन्नरूप में स्थित विश्व का सदाशिव आदि के उचित रूप में अवभासन की इच्छा होने पर श्री परमशिव पहले अवभासन की प्रक्रिया द्वारा, प्रकाश से अभिन्न रूप के (अपने को) चित् से (पृथक्) अख्यातिमय अनाश्रितशिव के पर्याय शून्यातिशून्य के रूप में प्रस्फुरित

१. ई० प्र० वि०, १ पृ० १५६

करते हैं। तदनन्तर (वह) चित् के रस के आस्वादस्वरूप अखिल तत्त्वों, भुवनों, पदार्थों तथा उनके प्रमाताओं के रूप में अपना विस्तार करते हैं।

जिस प्रकार भगवान् (शिव) विश्ववपु हैं, उसी प्रकार चितिसंकोचस्वरूप अर्थात् संकुचितचिद्रूप चेतन अर्थात् ग्राहक भी वट के बीज की भाँति अखिलविश्वस्वरूप है जो संकुचित है। सिद्धान्त भी यही कहता है—

'सभी पदार्थों का आत्मशरीरात्मक स्वभाव यह होता है कि वे आत्मा तथा शरीर दोनों होते हैं।'

त्रिशिरोमत में भी,

'प्रिये इस समय सुनो, यह शरीर सभी देवताओं से बना है (तथा) पृथिवी अपने ठोस गुणों एवं जल अपने द्रवत्व के लिए प्रसिद्ध है।'

द्वारा (ग्रन्थ का) प्रारम्भ करके,

"तीन सिरों से युक्त भैरव विश्व में साक्षात् व्याप्त हैं।"

से अवसान करके ग्राहक का संकुचित विश्वस्वरूप ही बतलाया गया है।

चेतन—'चिति' तथा 'चित्' की भाँति चेतन की उत्पति भी चित् धातु से हुई है जो विश्वात्मा का ही समानार्थक है। कहीं-कहीं इसका प्रयोग उपर्युक्त दोनों के पर्याय के रूप में भी होता है। यहाँ इसका प्रयोग संकुचित चित् के अर्थ में हुआ है।

अनाश्रित शिव—अख्यातिमय तथा अनाश्रितशिव उस अवस्था के द्योतक हैं जब कि चित्स्वरूप शिव इस विश्व में उद्देश्य-विहीन से हो जाते हैं।

शून्यातिशून्य—शून्यातिशून्य से शून्य प्रमाता का कोई सम्बन्ध नहीं। आभास की प्रक्रिया उस अन्तिम सत्ता के प्रति प्रमाता तथा प्रमेय के एक अनिवार्य आकर्षण के साथ प्रारम्भ होती है जो अभी तक दबा पड़ा हुआ था। यहाँ प्रमाता तथा प्रमिति पृथक् हो जाते हैं तथा इस स्थिति में यदि प्रमेय इस आकर्षण को स्वीकार नहीं करता तो उसे दब जाना पड़ता है। विश्व परमप्रमाता के नेत्रों के समक्ष ही प्रलीन हो जाता है और इसी से कल्पना होती है शून्यातिशून्यावस्था की।[1]

---

१. प्र० हृ० अ० ला० टिप्पणी ६३

अयं चात्राशयः—ग्राहकोऽपि अयं प्रकाशैकात्म्येन उक्तागमयुक्त्या च विश्वशरीरशिवैकरूप एव केवलं तन्मायाशक्त्या अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात् संकुचित इव आभाति। संकोचोऽपि विचार्यमाणः चिदैकात्म्येन प्रथमानत्वात् चिन्मय एव, अन्यथा तु न किंचित्। इति सर्वो ग्राहको विश्वशरीरः शिवभट्टारक एव। तदुक्तं मयैव—

"अख्यातिर्यदि न ख्याति ख्यातिरेवावशिष्यते।
ख्याति चेत् ख्यातिरूपत्वात् ख्यातिरेवावशिष्यते॥"

इति। अनेनैवाशयेन श्रीस्पन्दशास्त्रेषु—

"यस्मात् सर्वमयो जीवः················।"

इत्युपक्रम्य—

"तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न यः शिवः।"

इत्यादिना शिवजीवयोरभेद एवोक्तः। एतत्तत्त्वपरिज्ञानमेव मुक्तिः। एतत्तत्त्वापरिज्ञानमेव च बन्ध इति भविष्यति एव एतत्॥४॥

इसका अभिप्राय यह है कि यह ग्राहक भी प्रकाश स्वरूप होने के कारण उक्त आगम की युक्ति के अनुसार शिवस्वरूप है जो कि विश्वशरीर है; केवल उनकी मायाशक्ति के कारण (कभी-कभी) इसका स्वरूप अभिव्यक्त नहीं होता, (इसीलिए) संकुचित सा प्रतीत होता है।

सूक्ष्मतः देखें तो संकोच भी चित्स्वरूप ही है क्योंकि अभिव्यक्ति चित् रूप ही होती है। और कुछ नहीं। अतः सभी ग्राहक विश्वशरीर शिवभट्टारक ही हैं। जैसा कि मैंने ही कहा है—

"यदि अख्याति अप्रकाश है तो ख्याति ही रह जाती है, और यदि इसकी अभिव्यक्ति 'ख्याति' के रूप में होती है तब तो ख्याति बचती ही है।"
इसी अभिप्राय से श्रीस्पन्दशास्त्र में भी—

"चूंकि जीव सर्वरूप है·····································"
द्वारा उपक्रम करके,

"अतएव शब्द और अर्थ पर सूक्ष्म विचार किया जाय (तो पता चलता है) कि कोई भी अवस्था शिव से अव्यतिरिक्त नहीं है।"
आदि के द्वारा शिव तथा जीव का अभेद बतलाया गया है।

इस तत्त्व का परिज्ञान ही मुक्ति है। इस परिज्ञान का अभाव ही बन्ध है और यही होगा भी ॥४॥

ननु ग्राहकोऽपि विकल्पमयः, विकल्पनं च चित्तहेतुकं, सति च चित्ते कथमस्य शिवात्मकत्वम्? इति शङ्कित्वा चित्तमेव निर्णेतुमाह—

चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसंकोचिनी चित्तम् ॥५॥

न चित्तं नाम अन्यत् किंचित्; अपि तु सैव भगवती तत्। तथाहि सा स्वं स्वरूपं गोपयित्वा यदा संकोचं गृह्णाति तदा द्वयी गतिः। कदाचिदुल्लसितमपि संकोचं गुणीकृत्य चित्प्राधान्येन स्फुरति। कदाचित् संकोचप्रधानतया। चित्प्राधान्यपक्षे सहजं प्रकाशमात्रप्रधानत्वे विज्ञानाकलता। प्रकाशपरामर्शप्रधानत्वे तु विद्याप्रमातृता। तत्रापि क्रमेण संकोचस्य तनुतायां ईशसदाशिवानाश्रितरूपता। समाधिप्रयत्नोपार्जिते तु चित्प्रधानत्वे शुद्धाध्वप्रमातृता क्रमात् क्रमं प्रकर्षवती। संकोचप्राधान्ये तु शून्यादिप्रमातृता।

यदि ग्राहक विकल्प-प्रधान है, विकल्प चित्त से उत्पन्न होता है, चित्त को मानने पर इसे शिव-रूप कैसे माना जा सकता है? इस शंका को लेकर चित्त के स्वरूप का निर्णय करने के लिए कहते हैं—

चिति ही चेतन-पद से अवरूढ होकर प्रत्यक्ष के विषयों द्वारा संकुचित होकर चित्त कहलाती है ॥ ५ ॥

(वस्तुतः) चित्त और कुछ नहीं है अपितु वही भगवती (चिति ही) है। जैसे, जब वह अपने स्वरूप का गोपन करके संकुचित हो जाती हैं तो (इनकी) दो अवस्थाएँ हो जाती हैं। कभी-कभी संकोचभाव का उदय होने पर भी उसको गौण करके चित् के प्राधान्य से प्रस्फुरित होती है और कभी संकोच को प्रधान बना कर। चित् का प्राधान्य होने पर प्रकाश की प्रधानता स्वाभाविक है। (अतः इस स्थिति में) विज्ञानाकल प्रमाता होता है। प्रकाश-परामर्श के प्रधान होने पर विद्या प्रमाता कहलाता है। इस स्थिति में भी शनैः-शनैः संकोचभाव के क्षीण हो जाने पर भगवान् सदाशिव का स्वरूप अनाश्रित (प्रकट) हो जाता है। समाधि के प्रयत्न से उपार्जित चित् की प्रधानता में शुद्धाध्व प्रमाता शनैः-शनैः समुत्कर्ष प्राप्त करता है। जहाँ संकोच प्रधान रहता है वहाँ शून्यादि प्रमाता होते हैं।

विद्याप्रमाता—यहाँ विद्या से अभिप्राय चतुर्थ कंचुक से है। यह वह तत्त्व है जिसका विद्या प्रमाता के साथ सम्बन्ध होने पर वह इस प्रमाता की ज्ञानशक्ति

को संकुचित बना देता है, जिसको विवेकशक्ति कहना उपयुक्त होगा क्योंकि इसका विशेष व्यापार तो बुद्धि पर प्रतिबिम्बित विभिन्न विषयों का ज्ञान ही है। बुद्धि से पृथक् विद्या की कल्पना इसलिए आवश्यक है कि, यद्यपि बुद्धि की उत्पत्ति प्रधानतया सत्त्व से होने के कारण यह प्रतिबिम्ब ग्रहण कर सकती है, तथापि केवल द्वारा उद्भूत होने के कारण और इसीलिए जड होने के कारण न तो इसे अपना ज्ञान हो सकता है और न अपने ऊपर प्रतिबिम्बित विषयों का।

"बुद्धिस्तु गुणसंकीर्णा विवेकेन कथं सुखम्।
दुःखं मोहात्मकं वापि विषयं दर्शयेदपि॥"[1]

एवमवस्थिते सति, 'चितिरेव' संकुचितग्राहकरूपा, 'चेतनपदात् अवरूढा'—अर्थग्रहणोन्मुखी सती 'चेत्येन' नीलसुखादिना 'संकोचिनी' उभयसंकोचसंकुचितैव चित्तम्। तथा च—

"स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
मायातृतीये ते एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः॥"

इत्यादिना स्वातन्त्र्यात्मा चितिशक्तिरेव ज्ञानक्रियामायाशक्तिरूपा पशुदशायां संकोचप्रकर्षात् सत्त्वरजस्तमःस्वभावचित्तात्मतया स्फुरतीति श्रीप्रत्यभिज्ञाया-मुक्तम्। अत एव श्रीतत्त्वगर्भस्तोत्रे विकल्पदशायामपि तात्त्विकस्वरूपसद्-भावात् तदनुसरणाभिप्रायेणोक्तम्—

"अत एव तु ये केचित् परमार्थानुसारिणः।
तेषां तत्र स्वरूपस्य स्वज्योतिष्ट्वं न लुप्यते॥"

इति॥५॥

इस प्रकार चित्त और कुछ भी नहीं, अपितु संकुचित ग्राहक रूप चेतनपद से अवरूढ़ होकर विषयों के ग्रहण की ओर उन्मुख, 'चेत्य' अर्थात् नीलसुखादि से परिच्छिन्न अर्थात् (ग्राहक तथा ग्राह्य) दोनों के संकोच से परिच्छिन्न चिति ही है। जैसा कि—

"स्वांग-रूप पदार्थों में सत्त्व, रजस् तथा तमस् का पशु प्रमाता से वही सम्बन्ध है, जो ज्ञान, क्रिया एवं माया का पति प्रमाता से है।"

इत्यादि के द्वारा "श्री प्रत्यभिज्ञा" में कहा गया है कि स्वातन्त्र्य-स्वरूप ज्ञान, क्रिया तथा मायाशक्ति-रूप चिति-शक्ति ही पशुप्रमाता की

---

१. तन्त्रा० ६, १५१–५२

स्थिति में संकोच-भाव के प्रकर्ष के कारण सत्त्वरजस्तमःस्वरूप चित्त के रूप में प्रस्फुरित होती है। चूंकि विकल्पावस्था में भी (चित्तका) प्रारम्भिक स्वरूप विद्यमान रहता है अतएव उसी (चित्त) के अनुसरण के अभिप्राय से "श्री तत्त्वगर्भस्तोत्र" में भी कहा गया है–

"अतः जो लोग परमार्थ के अन्वेषण में सचेष्ट हैं उस प्रयत्न में उनके आत्मस्वरूप के प्रकाश का लोप नहीं होता।"

पशु प्रमाता--"पाशितत्वात् पशुः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार बाध्य होने के कारण ही प्रमाता पशु कहलाता है। यह पाश है—परमेश्वर-रूप से भेद-प्रथन। इसी पाश पर प्रकाश डालते हुए उत्पल कहते हैं, **"मायातो भेदिषु क्लेशकर्मादिकलुषः पशुः।**[1] अभिनव भी इन्हीं के समर्थक हैं। इसी पाश को अख्याति की संज्ञा भी दी जाती है। पाश का आशय है बन्धकतया अभिमान। जो कुछ भी प्रकाशकवपु से भिन्न है वही है पाश—

"यत्किंचित्परमाद्वैतसंवित्स्वातन्त्र्यसुन्दरात् ।
पराच्छिवादुक्तरूपादन्यत्तत्पाश उच्यते ॥"[2]

यह पाश तीन प्रकार का है—आणव, कार्म तथा मायीय। यद्यपि इन पाशों की सहविद्यमानता अथवा अविद्यमानता से पशु प्रमाता के अनेक रूप हो सकते हैं, तथापि पाशरूपता की दृष्टि से वे समान हैं, क्योंकि प्रत्येक अवस्था में स्वरूप का ज्ञान रहता ही है। यही कहलाती है—अपूर्णमन्यता, **"एवमपि पाशरूपतायामेषां न कश्चिद् विशेषः पारमेश्वरस्य स्वरूपापरिज्ञानस्य तदवस्थात्।"**[3] स्वच्छन्दतंत्रकार भी इसी के समर्थक हैं।[4]

वस्तुतः पशु महेश्वर से भिन्न नहीं है। माया से परिच्छिन्न होने के कारण परम तत्त्व का स्वरूप अख्यात हो उठता है, फलतः आत्म-विषयों का आत्मतया भान तथा देहादि में अहन्ताबुद्धि होने लगती है तब हम उसे पशु कहते हैं— **"भोक्ता च तत्र देही शिव एव गृहीतपशुभावः"।**[5]

---

१. ई० प्र० वि०, २ पृ० २४६
२. तन्त्रा० ८, पृ० २९२
३. तत्रा० ८, पृ० २०२
४. स्व० तं० ४, पृ० ४२९
५. प० सा०, ५

पतिप्रमाता—पति तथा पशु में मौलिक भेद यही है कि पशु पाश-वशात् अपने को परमेश्वर से भिन्न समझता है तथा अहन्ताबुद्धि से अपने को मुक्त नहीं कर पाता। इसके विपरीत पति-स्थिति में प्रमाता अपने को परमेश्वर परमशिव से अभिन्न समझता है तथा विश्व के भावजात को अपने अंग-सदृश समझता है—**"स्वांगरूपेषु भावेषु प्रमाता कथ्यते पतिः"**[1] उसमें इस भावना का उद्रेक इसलिए हो जाता है क्योंकि वह विश्वपाश से मुक्त हो जाता है, **"यश्चासौ मुक्तः स भावान् स्वांगवदभिमन्यमानः प्रमिमीते इति स तेषां स्वामी"** और वह भी इसीलिए कि अपने स्वरूप को परमसत्ता में विश्रान्त कर देता है, **"स्वरूपपरमार्थसमर्पणाच्च पालकः इति पतिरुपदिष्टः"**।[2]

चित्तमेव तु मायाप्रमातुः स्वरूपमित्याह—

तन्मयो मायाप्रमाता ॥६॥

देहप्राणपदं तावत् चित्तप्रधानमेव शून्यभूमिरपि चित्तसंस्कारवत्येव; अन्यथा ततो व्युत्थितस्य स्वकर्तव्यानुधावनाभावः स्यादिति चित्तमय एव 'मायीयः' प्रमाता। अमुनैव आशयेन शिवसूत्रेषु वस्तुवृत्तानुसारेण "चैतन्यमात्मा" इत्यभिधाय मायाप्रमातृलक्षणावसरे पुनः "चित्तमात्मा" इत्युक्तम् ॥६॥

चित्त ही माया प्रमाता का स्वरूप है, इसीलिए कहा गया है—

मायाप्रमाता उस (चित्त) से युक्त है ॥६॥

देह तथा प्राण का स्थान तो चित्त-प्रधान होता ही है। शून्य-पद भी चित्त के संस्कार से युक्त होता है। अन्यथा उस (चित्त) से उत्थापित (जीवन-यात्रा वहन करने वाला व्यक्ति) अपने कर्तव्यपालन से पराङ्मुख हो जायगा। अतः माया प्रमाता चित्तमय ही है। इसी अभिप्राय से शिव-सूत्रों में वास्तविकता को दृष्टि में रखते हुए "आत्मा चैतन्य है" कहकर माया प्रमाता के लक्षण करते समय "आत्मा चित्त है" कहा गया है ॥६॥

मायाप्रमाता—माया प्रमाता अशुद्धाध्व के प्रमाता हैं। इनकी ज्ञानशक्ति संकुचित हो जाती है। ये प्रलयाकल तथा सकल से मिलकर बनते हैं।

अस्यैव सम्यक् स्वरूपज्ञानात् यतो मुक्तिः असम्यक् तु संसारः ततः तिलश एतत्स्वरूपं निर्भङ्क्तुमाह—

---

१. ई० प्र० वि०, २, पृ० २४६

२. ई० प्र० वि० २, पृ० २४७

स चैको द्विरूपस्त्रिमयश्चतुरात्मा सप्तपञ्चकस्वभावः ।।७।।

निर्णीतदृशा चिदात्मा शिवभट्टारक एव । एक आत्मा न तु अन्यः कश्चित् प्रकाशस्य देशकालादिभिः भेदायोगात् । जडस्य तु ग्राहकत्वानुपपत्तेः । प्रकाश एव यतः स्वातन्त्र्यात् गृहीतप्राणादिसंकोचः संकुचितार्थग्राहकतामश्नुते ततोऽसौ प्रकाशरूपत्वसंकोचावभासवत्त्वाभ्यां द्विरूपः । आणवमायीयकार्ममलावृतत्वात् त्रिमयः । शून्यप्राणपुर्यष्टकशरीरस्वभावत्वात् चतुरात्मा ।

चूँकि इसी आत्मा के स्वरूप के सम्यक् ज्ञान से मुक्ति तथा असम्यक् ज्ञान से संसार है अतः विशद रूप से इस स्वरूप के विश्लेषण के लिए कहते हैं--

वह (शिवभट्टारक) एक होते हुए भी (प्रकाश एवं संकोचावभासवान् होने के कारण) दो रूपों वाला, (मलत्रय से युक्त होने के कारण) त्रिमय, (शून्य, प्राणादि से युक्त होने के कारण) चतुरात्मा तथा (पैंतीस तत्त्वों से युक्त होने के कारण) सप्तपंचकस्वभाव है ।।७।।

निर्णयात्मक दृष्टि से चेतन आत्मतत्त्व शिवभट्टारक ही है । वह आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं, क्योंकि प्रकाश का देशकालादि द्वारा भेद संभव नहीं है तथा जड कभी ग्राहक नहीं हो सकता । चूंकि प्रकाश अपनी स्वतन्त्र इच्छा से प्राणादि के द्वारा संकुचित (परिच्छिन्न) होकर संकुचित लक्ष्यवाला ग्राहक बन जाता है अतः यह (शिवभट्टारक) दो रूपोंवाला है--प्रकाशस्वरूप तथा संकोचावभासवान् । आणव, मायीय तथा कार्म मल से आवृत होने के कारण इसको 'त्रिमय' कहा जाता है । शून्य, प्राण, पुर्यष्टक तथा शरीर से युक्त होने के कारण वह 'चतुरात्मा' है ।

संकोचावभास--शिवभट्टारक का यह विभेद सद्विद्या तथा विद्या तत्त्वों के आधार पर किया जाता है। "विद्या" एक 'कंचुक' भी है। इसके प्रभाव में प्रमाता संकुचित हो जाता है । "सद्विद्या" की स्थिति में "अहम्" तथा "इदम्" एक सत्ता के द्योतक होते हैं जब कि "विद्या" की स्थिति में दो पृथक् वस्तुओं के। अभिप्राय यह कि सद्विद्या की स्थिति में विषय तथा विषयी एक दूसरे से अभिन्न होते हैं, जब कि विद्या की स्थिति में भिन्न । प्रथम स्थिति ऐक्य की द्योतक है, दूसरी भेद अथवा बहुत्व की ।[1] यही दूसरी अवस्था है "संकोचाभासमानावस्था"। यह संकोच उसमें उसकी शक्ति (चिति) के संकोच के कारण ही उत्पन्न होता है, **"चितिसंकोचात्मा चेतनोऽपि संकुचितविश्वमयः ।"** इसी संकोच के

१. ई० प्र० वि०, पृ० २२३-२४

कारण उसे संसारी भी कहते हैं—

"चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी" ।[1]

इस स्थिति में वह अभेदव्याप्ति से हटकर भेदव्याप्ति का समाश्रयण करता है ।

मलत्रय—मलत्रय की कल्पना त्रिकदर्शन की अपनी कल्पना है । इसीके आधार पर चिदात्मा के दूसरे स्वरूप की कल्पना सम्भव है। **"मलावृतः संसारी"** । इसी लिए इसको संसार का कारण कहा गया है, **"मलस्य ज्ञानमिच्छन्ति संसारांकुरकारणम्"** । इसी अज्ञान को मालिनीविजयकार सृष्टि, स्थिति तथा संहार का कारण बताते हैं, **"अज्ञानाद्बध्यते लोकः ततः सृष्टिश्च संहृतिः ।"** ये तीन मल हैं—आणव, कार्म तथा मायीय । परमेश्वर के स्वातंत्र्य से समुद्भूत ये मलत्रय, वस्तुतः, एक दूसरे में कार्यकारणभाव से सम्बद्ध हैं; **"मायीयस्य कार्ममलं तस्य चाणवं कारणमिति भावः"** ।[2]

आणवमल—परमेश्वर की इच्छा से समुद्भूत इन मलों में इसका प्रथम स्थान है । परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को आच्छन्न करना ही इसका स्वभाव है । यह आच्छादन भी वह अपनी इच्छा से ही करता है । **"इह खलु परमेश्वरः पूर्णज्ञानक्रियात्मकं एवं स्वरूपं स्वेच्छया प्रच्छाद्य संकुचितात्मतामवभासयेत् ।"**[3] अभिनव इसको अपूर्णमन्यता तथा बन्ध का अवभासन मात्र समझते हैं, क्षेमराज भी यही कहते हैं, **"तथा च अप्रतिहतस्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्तिः संकुचिता सती अपूर्णम्मन्यतारूपं आणवं मलम्"**[4] । अन्यत्र भी वह यही कहते हैं **"स एव शिवाभेदाख्यात्मकाज्ञानस्वभावोऽपूर्णम्मन्यतात्मकाणवमलसत्तत्त्वसंकुचितज्ञानात्मा बन्धः"**[5] । यह मत शिव से अभिन्न है । क्षेमराज ने अपने स्वच्छन्दोद्योत के पंचम पटल के अन्त में "दीक्षा" पर विचार करते समय इस बात का स्पष्टीकरण कर दिया है । यह अनादि होते हुए भी उच्छेद्य है ; तथा इसी के कारण अगणित पशु प्रमाताओं की उत्पत्ति होती है, **"अथानादिमलं पुंसां**

---

१. प्र० हृ० सू० ९
२. शि० सू० वि०, पृ० १२, टि० ५२
३. तन्त्रा० ६, पृ० ६०
४. प्र० हृ० अ० ला० पृ० ४८
५. शि० सू० वि० पृ० १२

पशुत्वं परिकीर्तितम्" ।[1] यह "कार्ममल" का उपादानकारण है; क्योंकि कर्मशक्ति को आणव पर अपना प्रभाव डालने के लिए इसी के अधीन रहना पड़ता है ।

यह मल अन्य दो मलों से पूर्ण स्वतन्त्र है । उन दोनों के नष्ट हो जाने पर भी यह बना रहता है । प्रलयावस्था पहुँचने के पूर्व तक यह सृष्टि की चार अवस्थाओं से गुजरता रहता है । शुद्धाध्व के पाँचों प्रमाताओं का भेद इसी के सम्बन्ध द्वारा व्यक्त होता है ।

सांख्य के द्वारा विहित बन्ध के कारण 'राग" के साथ इसका साम्य स्थापित करना महान् भूल होगी । "राग" तो बुद्धि का धर्ममात्र है जो किसी विषय अथवा विषयी के साथ पुरुष का सम्बन्ध व्यक्त करता है. **"रागः पुंसि धियो धर्मः"**[2] जब कि आणवमल अपूर्णता का अवभासन मात्र है जिसके द्वारा चिदात्मा को अन्यान्य संकोच सहन करने पड़ते हैं । "राग" तत्त्व और सांख्यों का राग इसी आणवमल के अग्रिम अभिव्यक्तीकरण हैं ।

कार्ममल—क्रिया-शक्ति ही कर्म से अत्यन्त परिमित हो जाने पर कार्म-मल कहलाती है; क्योंकि भेद में सर्वकर्तृत्व अल्पकर्तृत्व के रूप में परिणत हो जाता है । यह कर्मेन्द्रिय पर आधारित संकुचितावस्था से प्रारम्भ होता है तथा इसमें कर्ता शुभ तथा अशुभ दोनों करने पर तुल जाता है । **"क्रियाशक्तिः क्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वस्य किंचित्कर्तृत्वाप्तेः कर्मेन्द्रियरूपसंकोचग्रहणपूर्वं अत्यन्तं परि-मिततां प्राप्ता शुभाशुभानुष्ठानमयं कार्मं मलम् ।"**[3] इसका कर्म संस्कार से कोई सम्बन्ध नहीं; क्योंकि वह तो विविध कायिक तथा मानसिक क्रियाओं का आत्मा के ऊपर संस्कार मात्र है । यह वस्तुतः अनादि सृष्टि के साथ परमेश्वर के अग-णित सम्बन्धों को प्रकट करने के लिए एक निरुद्देश्य इच्छा मात्र है । शिवसूत्रों में भी "योनिवर्गःकलाशरीरम्"[4] के द्वारा इसी ओर संकेत किया गया है । क्षेम-राज ने इस बात को विशद रूप से अपनी विमर्शिनी में स्पष्ट कर दिया है ।[5] यह तो पूर्णरूपेण आणव मल पर आश्रित है ।

मायीयमल—**'शरीरभुवनाकारो मायीयः परिकीर्तितः'** तन्त्रालोककार की इस उक्ति के अनुसार कार्ममल तथा कर्मसंस्कार के कारण चिदात्मा का

---

१. तन्त्रा० ६, पृ० ६०
२. तंत्रा० ६, पृ० ५८
३. प्र० हृ० अ० ला०, पृ० ४६
४. शि० सू०, १।३
५. शि० सू० वि०, पृ० १२

जिससे सम्बन्ध होता है वही है—मायीय मल । 'प्रत्यभिज्ञा' में इसी को **'भिन्न-वेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम्'** के द्वारा व्यक्त किया गया है । क्षेमराज इसी को **"ज्ञानशक्तिः क्रमेण संकोचात् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किंचिज्ज्ञत्वाप्तेः अन्तःकरणबुद्धीन्द्रियतापत्तिपूर्वं अत्यन्तं संकोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीयं मलम्"** इन शब्दों में यह स्पष्ट करते हैं कि ज्ञानशक्ति ही उत्तरोत्तर संकोच ग्रहण करने पर भेद-ज्ञान की प्रथा करती है तो इसी को मायीय मल की आख्या दी जाती है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी मल संकुचित विशिष्ट ज्ञान-रूप ही हैं । यही संकोच आगे चलकर कंचुकों के रूप में परिणत हो जाता है । अध्यात्मनय कहता है––

"यः संकोचः स एवास्य आणवो मल उच्यते ।
ततः षड्कंचुकव्याप्तिविलोपितनिजस्थितेः ॥"[१]

ये ही मल बन्ध की आधार-भित्ति हैं, **"तथाविधश्च अयं शक्तिदरिद्रः संसारी उच्यते । स्वशक्तिविकासे तु शिव एव ।"**[२]

शून्यप्राणादि–पशु प्रमाता की सुषुप्तावस्था की द्योतक ये चार अवस्थाएँ हैं, इनमें से प्रथम (शून्या) में तो समशून्यता **"अस्फुटा रूपसंस्कारमात्रिणी"** रहती है । उसमें केवल "अहन्ता" की प्रतीति शेष रह जाती है । शून्य इसे इसलिए कहा जाता है कि इसमें बुद्धि से लेकर देहादि का अभाव रहता है । इसमें निषेध्य के अवश्यंभावी योग **"न किंचिदवेदिषम्"** का परामर्श उसी भाँति होता है जैसे लोक में कोई अभाव-पीड़ित व्यक्ति कहता है **"अकिंचनोऽहम्"** अर्थात् मेरे पास कुछ भी नहीं है । किन्तु इसका अभिप्राय यह थोड़े ही होता है कि उसके पास वस्तुओं का पूर्णतया अभाव है ? यह तो कहने का ढंग है, जिसे यहाँ सामान्य निषेध कहा गया है । इसी शून्य प्रमाता की स्थिति ज्ञान के विषय में भी समझना चाहिए ।[३]

दूसरी स्थिति है 'प्राण' । इन्द्रिय शक्तियों की, जो आन्तरिक सामान्य का भान कराने वाली प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान नामक मारुतवर्ग की प्रेरिका प्राण नामक शक्ति है वही जब अहन्ता में विश्रान्त हो जाती है तब ही "जीव" का रूप धारण कर लेती है तथा संसरण का कारण बनती है ।

---

१. शि० सू० वि०, पृ० १५ पर उद्धृत

२. प्र० हृ० अ० ला०, पृ० ४६

३. ई० प्र० वि० २, पृ० २६१-६२

इसी का विकसित स्वरूप है पुर्यष्टक । यह तीसरी अवस्था है । इसके दो स्वरूप माने जाते हैं । प्राणादि पांच वायु, बुद्धीन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय मिलकर जब एक निश्चयात्मिका बुद्धि उत्पन्न करते हैं तब वही प्राण पुर्यष्टक कहलाने लगता है । कुछ लोग यह मानते हैं कि वस्तुत:, तन्मात्रपंचक का उदय ही पुर्यष्टक कहलाता है तथा यह मन बुद्धि और अहंकार में रहता है, **"तन्मात्रोदयरूपेण मनोऽहंबुद्धिना पुर्यष्टकेन संसिद्धिः"**।[1] गीता भी कहती है "भूमिरापोऽनलं" आदि। इसी बात को स्पष्ट करते हुए राघवानन्द अपनी परमार्थसारटीका में कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि खलु पंच तथापराणि
बुद्धीन्द्रियाणि मन आदि चतुष्टयं च ।
प्राणादि पंचकमथो वियदादिकं च
कामश्च कर्म .... ॥

इस प्रकार उभय पुर्यष्टक में जब आत्मबोध विश्रान्त हो जाता है तो उसी को सुषुप्तावस्था कहते हैं ।

चौथी अवस्था है शरीरावस्था । इन्हीं चारों से युक्त होकर वह शिव-भट्टारक एक होते हुए भी चार रूप धारण करता है ।

सप्तपञ्चकानि शिवादिपृथिव्यन्तानि पंचत्रिंशत्तत्त्वानि, तत्स्वभावः । तथा शिवादिसकलान्तप्रमातृसप्तकस्वरूपः । चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियाशक्तिरूपत्वेऽपि अख्यातिवशात् कलाविद्यारागकालनियतिकञ्चुकवलितत्वात् पञ्चकस्वरूपः । एवं च शिवैकरूपत्वेन पंचत्रिंशत्तत्त्वमयत्वेन प्रमातृसप्तकस्वभावत्वेन चिदादि-शक्तिपञ्चकात्मकत्वेन च अयं प्रत्यभिज्ञायमानो मुक्तिदः । अन्यथा तु संसार-हेतुः ॥७॥

सप्तपंचक कहते हैं शिव से लेकर धरणी तक पैंतीस तत्त्वों को । उनसे युक्त होने के कारण इसको 'सप्तपञ्चक स्वभाव' कहते हैं । इसके अतिरिक्त यह शिव से लेकर सकल तक सात प्रमाता से युक्त होता है । चित्, आनन्द, इच्छा तथा क्रिया-शक्तियों से युक्त होते हुए भी अख्यातिवशात् (इसे) कला, विद्या, राग, काल तथा नियतिरूप पञ्चकञ्चुक से युक्त होना पड़ता है, (अतः यह) पञ्चक-स्वरूप है । और इस प्रकार जब इस बात का प्रत्य-भिज्ञान हो जाता है कि शिव एक होते हुए भी पैंतीस तत्त्वों, सात प्रमा-ताओं तथा चित्त आदि पाँच शक्तियों से युक्त है तभी वह मुक्ति प्रदान करता है, अन्यथा संसार का हेतु बनता है ॥७॥

---

१. स्पं० का० ४, पृ० १६

त्रिकदर्शन की शक्ति की धारणा नैयायिक-शक्ति-धारणा से सर्वथा भिन्न हैं। नैयायिकों के अनुसार यह एक गुण है जिसको अधिष्ठान की आवश्यकता होती है। और इस प्रकार वे शक्ति तथा शक्तिमान् की भिन्नता के प्रतिपादक हैं। जब कि त्रिक सदैव उनके ऐक्य की दुहाई देता है, "**शक्ति-शक्तिमतोरभेदः।**" इन्हीं विविध शक्तियों के सामानाधिकरण्य से ऐश्वर्य की सिद्धि होती है। ये शक्तियाँ पांच हैं—चित्शक्ति, आनन्दशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति, तथा क्रियाशक्ति।

"सा चिदानन्दमात्रात्ममग्रेच्छाज्ञानसत्क्रियाः।
हृदयं देवदेवस्य भैरवस्याविभागभूः॥"[1]

(१) **चित् शक्ति**—यह उसके प्रकाशस्वरूप के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं, '**प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः**'।[2] इसी अनन्यापेक्ष प्रकाश के द्वारा परमात्मा उस अवस्था में भी प्रकाशित रहता है जब पदार्थ नामक कोई वस्तु नहीं रह जाती जिसे प्रकाशित करे। इसकी तुलना सूर्य के ऐसे प्रकाश से समीकृत की जा सकती है जब कि प्रकाश्य वस्तुओं का सर्वथा अभाव रहता है। केवल स्वप्रकाश मात्र होता है।

(२) **आनन्दशक्ति**—परमेश्वर का स्वातन्त्र्य ही उसकी आनन्दशक्ति है। उसे किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए चलना तथा प्रत्यत्न नहीं करना पड़ता। उसका अनन्यमुख स्वातन्त्र्य उसे पूर्ण विश्राम दिये रहता है। हम आप भी बिना प्रयत्न के कोई वस्तु पा जाने पर मोद मानते हैं। उसे किसी वस्तु के पाने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। यही इसका आनन्द है। शिव का आनन्द ब्रह्म के आनन्द से सर्वथा विपरीत है। दैनिक जीवन में होने वाला आनन्द ब्रह्म में कहाँ? उसमें तो इतनी भी शक्ति नहीं कि वह अपने को जान सके, जब कि शिव ऐसे आनन्द से ओतप्रोत होता है।

(३) **इच्छा-शक्ति**—किसी भी स्वरूप की अभिव्यक्ति के पूर्व उसकी वैसी प्रवृत्ति ही इच्छा है। इसे शिव स्वातन्त्र्य का चमत्कार कहा गया है, "**तच्चमत्कारः इच्छाशक्तिः**"। हम पहले किसी बात की इच्छा करते हैं, तदुपरान्त उसमें प्रवृत्त होते हैं। यहाँ तक कि हमारे स्वाप्निक पदार्थ भी हमारी विकृत इच्छाओं के प्रतिनिधि ही हैं। परमेश्वर भी विश्वसत्ता की इच्छा करता है। इसलिए उसमें इच्छाशक्ति की प्रतिष्ठा आवश्यक है। यही परमेश्वर की अन्य तीनों शक्तियों

---

१. प० सा० ५
२. तन्त्रा० आ० १

में अपना प्रमुख स्थान रखती है, कारण कि यही आदि एवं बाद की दो शक्तियों की कारण है।

(४) **ज्ञान-शक्ति**—इच्छा द्वारा परिणमित आमर्षात्मिकता ही ज्ञान-शक्ति है, **"आमर्षात्मिकता ज्ञान-शक्तिः।"**[1] इच्छा तथा ज्ञान के अनिवार्य पौर्वापर्य के कारण ही इच्छाशक्ति को इसका आधार माना जाता है। हम पहिले किसी बात की इच्छा करते हैं, उसके पश्चात् उसके विषय में जानते हैं। यही जानना कहलाती है—ज्ञान-शक्ति। आमर्ष का अभिप्राय है "ईषत्तया वेद्योन्मुखता।" वस्तु का ज्ञान ही क्रिया अथवा भावना नहीं हो सकती; क्रिया तो इसके बाद आती है। अतएव क्रिया-शक्ति इसी के ऊपर आधारित है।

(५) **क्रिया-शक्ति**—परमेश्वर ही समस्त स्वरूपों का प्रथन करता है। जब उसकी चिति-शक्ति अपना विस्तार करती है (उन्मिषति) तो विश्व अस्तित्व तथा स्थिति प्राप्त करता है तथा इसके प्रसार रोक लेने पर विश्व का विकास भी रुक जाता है, **"अस्यां हि प्रसरन्त्यां जगदुन्मिषति व्यवतिष्ठते च, निवृत्त-प्रसरायां च निमिषति।"**[2] उसकी इसी परिवर्तन की योग्यता को शक्ति कहते हैं।[3] उसकी इसी अनंत शक्ति-प्रचय-विभाजन की भाँति उसके अनन्त पञ्चकृत्यों का महानाटक चला करता है जिसका वह स्वयं नायक है, **"पञ्चकृत्य-महानाट्यरसिकः क्रीडति प्रभुः।"**[4] इस विश्व की सृष्टि ही उसका मनोरंजन है। इसकी स्थिति में वह सुख का अनुभव करता है तथा इसकी संहृति में ही उसे "तृप्ति" मिलती है।

"सदा सृष्टिविनोदाय सदा स्थितिसुखासिने।
सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय भवते नमः॥"[5]

इस प्रकार इन पाँचों शक्तियों के सामानाधिकरण्य से एकात्मना स्थित रहते हुए भी अख्यातिवशात् पञ्चकञ्चुकों से संवलित होकर पञ्चकस्वरूप हो जाता है। इस संवलन की आधार-भित्ति माया है। यह परमात्मा का वास्तविक स्वरूप छिपा लेती है। अतः न केवल इसकी उक्त पाँचों शक्तियों पर पर्दा पड़ जाता है, अपितु इसी (परमात्मन्) के साथ एकात्मना स्थित विश्व भी

---

१. तं० सा० आ० १
२. प्र० हृ० अ० ला०, पृ० २१
३. का० शैं०, पृ० ४६
४. बो० पं०, पृ० ६०२
५. ई० प्र० वि० १, पृ० २३६पर उद्धृत

विलुप्त हो जाता है। तभी इसको अपने दूसरे पहलू को प्रकट करने का अवसर मिल जाता है। अर्थात् वह विश्व के परिच्छिन्न रूप को अपनी इन्हीं शक्तियों (कञ्चुकों) द्वारा लगभग एक ही समय व्यक्त करती है जिस प्रकार आमलकी को लाठी से पीटिये तो उसके सारे फल गिर पड़ते हैं। इन पाँचों तत्त्वों को माया के साथ अन्तरंग कञ्चुक कहा जाता है। इन्हें कञ्चुक कहने का अभिप्राय यही है कि जिस प्रकार कञ्चुक एक अंग-विशेष को छिपा लेता है उसी प्रकार ये भी विभिन्न शक्तियों को आवृत कर लेती हैं।[1]

इन पाँचों के क्रम के विषय में आचार्यों में मतभेद है। अभिनव इसके विभाजन में अपना आधार "मालिनी विजय तन्त्र" को मानते हैं। **"मालिनीतन्त्रदृशा तां संप्रक्ष्महे।"**[2] क्षेमराज भी अभिनव को ही प्रमाण मानते हैं। उनके अनुसार इन कञ्चुकों का क्रम निम्नांकित है—

कला

यह माया की प्रथम सृष्टि है। माया के द्वारा परमात्मा का तिरोभाव उसे आणवमल से युक्त कर देता है जिसके कारण परमात्मा विभिन्न पुरुषों के रूप में आभासित होने लगता है। **"मायास्वीकारपारतन्त्र्यात् सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वमयोऽपि 'बोधः' सर्वज्ञत्वादिगुणापहस्तनेन अख्यातिरूपम् आणवं मलं आपन्नः, येन घटाकाशवत् पूर्वस्वरूपात् चिदाकाशात् अवच्छेद्य परिमितीकृतः सन् तदेव पुंस्तत्त्वम् उच्यते।**[3]

यही वह तत्त्व है जिसके द्वारा कर्तृत्वतिरोहित प्रमाता में कुछ कर सकने की क्षमता आ जाती है। **"मायातत्त्वात् कला जाता किञ्चित् कर्तृत्वलक्षणा।"**[4] कला का कर्ता के साथ सम्बन्ध विद्यादि अन्य कञ्चुकों की भाँति करणवत् नहीं है। इसका सम्बन्ध तो प्रयोजक की भाँति है।

"सेयं कला न करणं मुख्यं विद्यादिकं यथा।
पुंसि कर्तरि सा कर्त्री प्रयोजकतया यतः॥"[5]

कला और पुरुष का सम्बन्ध पुरुष को कर्मबन्धनों से मुक्त कर विज्ञानाकलावस्था पर पहुँचा देता है, जहाँ माया का साम्राज्य समाप्त हो जाता है।[6]

---

१. तन्त्रा० ६, पृ० १२८
२. तन्त्रा० ६, पृ० १२९
३. प० सा० टी०, पृ० ४५-४६
४. तन्त्रा० ६, पृ० १७६
५. तन्त्रा० ६, पृ० १८३
६. तन्त्रा० ६, पृ० १८४-८५

सांख्य के अनुसार प्रकृति-पुरुष का विवेक ही केवल प्राप्ति में साधन है। किन्तु शैवाचार्यों के अनुसार पुं-प्रकृति-विवेक केवल आत्मा को प्रधान से निम्न अवस्था में जाने से ही नहीं रोकता। माया तो उससे भी ऊपर की स्थिति है जिसके द्वारा मलत्रय का सर्जन होता है। अतः प्रकृतिपुंविवेक से आत्मा को बन्धनों से वैसी मुक्ति नहीं मिलती जैसी कलापुंविवेक से।

कला को माया से पृथक् तत्त्व मानने का एक विशेष प्रयोजन है। यह प्रयोजन है दोनों के कर्मों का भेद।[1] माया पुरुष की शक्तियों को तिरोहित करती है **"तिरोधानकारी मायाभिधा पुनः"** जब कि कला पुरुष को एक परिमित कर्तृत्वशक्ति प्रदान करती है। अतः कला को माया से पृथक् मानना समीचीन ही है।[2]

विद्या

परन्तु बेचारी कला ही क्या करेगी जब कि सर्वज्ञता का तिरोधान हो चुका है। हम कोई भी कार्य बिना उसके परिणाम को जाने हुए नहीं कर सकते। इसी आवश्यकता का अनुभव करके त्रिकदर्शन को एक दूसरे तत्त्व की उद्भावना करनी पड़ी और वह तत्त्व है विद्यातत्त्व। यही वह तत्त्व है जिसके कारण पुरुष में, जिसमें ज्ञातृत्व शक्ति का तिरोधान हो चला था, **"जानामि"** की अनुभूति का संचार होता है। विद्या ही बुद्धि-दर्पण में संक्रान्त भावराशि (नीलसुखादि) का व्यवस्थापन करती है—**"अस्य शून्यादेर्जडस्य विद्या किञ्चिज्ज्ञत्वोन्मीलनरूपा बुद्धिदर्पणसंक्रान्तभावराशिं नीलसुखादिं विविनक्ति।"**[3] इसको विवेक-शक्ति कहना अधिक समीचीन होगा; क्योंकि इसका विशेष कार्य है बुद्धि पर संक्रान्त भिन्न पदार्थों का ज्ञान। इस तत्त्व को बुद्धि से पृथक् मानना इसलिए आवश्यक है कि बुद्धि यद्यपि सत्त्व का विकास होने के कारण प्रतिबिम्ब तो ग्रहण कर सकती है तथापि गुणजन्य होने के कारण जडरूपा यह न तो अपने को जानने का सामर्थ्य रखती है और न अपने पर प्रतिबिम्बित भाव राशि को।[4]

राग

अब प्रश्न यह है कि यदि कर्तृत्व और ज्ञातृत्व-शक्ति सभी पुरुषों में समान है तो फिर पुरुष भिन्न-भिन्न कार्यों के प्रति अनुरक्ति क्यों प्रदर्शित करता

---

१. तन्त्रा० ६, पृ० १८९
२. अ० गु० द्वि० सं० पृ०, ३७३
३. ई० प्र० वि० २, पृ० २३७
४. तन्त्रा० ६, पृ० १५१-५२

है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए त्रिक ने राग तत्त्व की कल्पना की। यह तत्त्व आत्मा की पूर्णता नामक शक्ति का संकुचित रूप है। इसी तत्त्व के द्वारा पुरुष का विषयों के प्रति आसक्ति (अभिष्वङ्ग) व्यक्त होता है, **"इत्यत्रार्थेऽभिष्वङ्गरूपः प्रमातरि देहादौ प्रमेये च गुणाद्यारोपणमय इव रागो व्याप्रियते"**।[1] इसी के द्वारा पुरुष कुछ विषयों के प्रति रुचि तथा कुछ के प्रति अरुचि प्रदर्शित करता है।[2] इसको सांख्य द्वारा प्रतिपादित वैराग्य का समानार्थक समझना भ्रान्तिमूलक होगा क्योंकि अवैराग्य एक वृद्ध के हृदय में एक सुन्दरी के प्रति उत्पन्न होता हुआ नहीं देखा जाता है जब कि राग तो सबके हृदय में रहता ही है **"न च तद्बुद्धिगतमवैराग्यमेव, तद्धि स्थूलं वृद्धस्य प्रमदायां न भवेदपि, रागस्तु भवत्येव।"**[3]

काल

परमेश्वर की नित्यता-शक्ति ही संकुचित होकर काल-तत्त्व कहलाती है। माया से पूर्व परमात्मा के आभासों में देश तथा काल का कोई नियम नहीं था। परन्तु माया से नीचे आ कर हम इस परिधि का अनुभव करने लग जाते हैं। यह काल प्रमाता में क्रम की परिमिति की अनुभूति कराकर प्रमेय में भी अपना विस्तार करता है। **"योऽहं कृशोऽभवं स स्थूलो वर्ते भविष्यामि स्थूलतरः इत्येवमात्मानं देहरूपक्रमवन्तमिव परामृशंस्तत्सहचारिणि प्रमेयेऽपि भूतादिरूपं क्रमं प्रकाशयति।"** इसी एक तथा नित्य के त्रेधा विभाजन के कारण इसे परिच्छेदकारी कहते हैं, **'कालः परिच्छेदकारी'**।

नियति

यह वह शक्ति है जो प्रत्येक वस्तु की कार्यक्षमता का नियमन करती है। इसी शक्ति के कारण ही दाहिका शक्ति केवल वह्नि में रहती है, तथा अंकुर-विशेष बीज-विशेष से ही अंकुरित हो सकता है। इसको पञ्चकञ्चुकों में सम्मिलित करने का प्रयोजन यह है कि पुरुष अपने कार्यकलापों में इसी के द्वारा नियमित किया जाता है।

"नियतिर्नियोजनां धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले।"[4]

---

१. ई० प्र० वि० २, पृ० २३८
२. तन्त्रा० ६, पृ० १५७
३. ई० प्र० वि० २, पृ० २३८ व तन्त्रा० ६, पृ० २०१
४. तन्त्रा० ६, १६०

किसी वस्तु विशेष के अभिष्वङ्ग के 'क्योंकि' का स्पष्टीकरण यही शक्ति करती है। "अत्रैव कस्मादभिष्वङ्ग इत्ययमर्थो नियत्या नियम्यते इति।"[1] नियति को परमात्मा की स्वातन्त्र्य शक्ति का संकुचित रूप कहा जाता है।

"यस्य स्वातन्त्र्याख्या शक्तिः संकोचशालिनी सैव।
कृपा कृत्येष्ववशं नियतममुं नियमयन्त्यभून्नियतिः।[2]

एवञ्च—

तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः ॥८॥

सर्वेषां चार्वाकादिदर्शनानां स्थितयः सिद्धान्ताः तस्य एतस्य आत्मनो नटस्येव स्वेच्छावगृहीताः कृत्रिमा भूमिकाः तथा च "चैतन्यविशिष्टं शरीरमात्मा" इति चार्वाकाः।

नैयायिकादयो ज्ञानादिगुणगणाश्रयं बुद्धितत्त्वप्रायमेव आत्मानं संसृतौ मन्यन्ते। अपवर्गे तु तदुच्छेदे शून्यप्रायम्।

और इसी प्रकार—

सभी दर्शनों के (सिद्धान्त) उस (आत्मा) की भूमिकाएँ हैं ॥८॥

सभी चार्वाकादि दर्शनों की स्थितियाँ अर्थात् सिद्धान्त उस आत्मा रूपी नट की अपनी (स्वतन्त्र) इच्छा से गृहीत कृत्रिम भूमिकाएँ हैं। जैसा कि चार्वाक कहते हैं—"चैतन्य-विशिष्ट शरीर ही आत्मा है।"

नैयायिक आदि आत्मा को संसृतिदशा में ज्ञानादि गुणों के आश्रयभूत बुद्धितत्त्व जैसा ही मानते हैं। अपवर्ग की स्थिति में उस (बुद्धि तत्त्व) के उच्छिन्न हो जाने पर (आत्मा) शून्य जैसा हो जाता है।

चार्वाक दर्शन—चार्वाक अथवा लोकायत दर्शन भारत का प्राचीन दर्शन है। इसका उल्लेख वेदों, पुराणों तथा दार्शनिक ग्रन्थों में मिलता है। इस दर्शन का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ तो मिलता नहीं, न ही इसकी कोई परम्परा उपलब्ध होती है, किन्तु प्रत्येक भारतीय दर्शन के ग्रन्थों में इसका नामोल्लेख खण्डन के सन्दर्भ में मिलता है। इसकी व्युत्पत्ति के विषय में विभिन्न मत प्रचलित हैं। कुछ विद्वानों

---

१. ई० प्र० वि० २, पृ० २३८
२. प० त० सं०, पृ० १२

के अनुसार इस शब्द की उत्पत्ति 'चर्व' धातु से हुई है, जिसका अर्थ होता है—चबाना खाना आदि। कुछ लोग इसे 'चारु' (सुन्दर) तथा वाक् (वाणी) से निष्पन्न करते हैं। कुछ लोग इसका सम्बन्ध चार्वाक नामक ऋषि से जोड़ते हैं। इस दर्शन के प्रवर्तक बृहस्पति को मानने की भी परम्परा है। महाभारतादि ग्रन्थों में इस बात का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। लोकायत भौतिकतावादी दर्शन है अतः कुछ विद्वानों का विचार है कि बृहस्पति ने इस दर्शन का प्रचार दानवों में किया था जिससे दानवों का अपने आप विनाश हो जाय। कुछ भी हो, यह बड़ा व्यावहारिक दर्शन है। इसके अनुसार प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है। अनुमानादि अन्य प्रमाण इसी में अन्तर्भूत हो सकते हैं। इस दर्शन के अनुसार चैतन्य का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा होता है और चैतन्य हमारे शरीर के अन्तर्गत है इसी लिए वे चैतन्य-विशिष्ट देह को ही आत्मा मानते हैं।

अहंप्रतीतिप्रत्येयः सुखदुःखाद्युपाधिभिः तिरस्कृत आत्मेति मन्वाना मीमांसका अपि बुद्धावेव निविष्टाः। ज्ञानसंतान एव तत्त्वं इति सौगता बुद्धिवृत्तिष्वेव पर्यवसिताः।

प्राण एवात्मेति केचित् श्रुत्यन्तविदः।

असदेव इदमासीदित्यभावब्रह्मवादिनः शून्यभुवमवगाह्य स्थिताः। माध्यमिका अपि एवमेव।

सुखदुःखादि उपाधियों से परिच्छिन्न आत्मा की प्रतीति अहंप्रत्यय पर आश्रित है यह मानने वाले मीमांसक भी बुद्धि तक ही आ पाते हैं। विज्ञानधारा को ही परमार्थ मानने वाले सौगत (बौद्ध) भी बुद्धि की वृत्तियों में ही (अपने सिद्धान्त का) पर्यवसान करते हैं।

उपनिषद् के कतिपय विचारकों के अनुसार प्राण ही आत्मा है; यह (विश्व) असत् ही था, यह मानने वाले अभाव-ब्रह्मवादी लोग शून्य-भूमि तक पहुँच कर वहीं रुक जाते हैं। माध्यमिक (बौद्धों) का भी यही मत है।

सौगत—सुगत बुद्ध का पर्याय है अतः उनके मार्ग का अनुसरण करने वाले 'सौगत' कहलाये।

माध्यमिक—माध्यमिक विचार-धारा बौद्ध दर्शन की एक प्रमुख शाखा है। इसे शून्यवाद भी कहते हैं। इसके प्रवर्तक नागार्जुन थे। बुद्धचरित के रचयिता अश्वघोष भी शून्यवाद के समर्थक थे। इस दर्शन की स्थापना विशेषतः नागार्जुन की 'मूल

माध्यमिक कारिका' में हुई है। इस दर्शन के अनुसार ज्ञात वस्तु असत्य है तो ज्ञाता तथा ज्ञान भी असत्य है। जब हम रज्जु को सर्प समझ लेते हैं तो वहाँ साँप का अस्तित्व सर्वथा असत्य हो जाता है। अतः स्वप्न जगत् की भाँति ज्ञाता तथा ज्ञेय सभी असत्य हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आभ्यन्तर तथा बाह्य किसी भी प्रकार की सत्ता नहीं है। यह संसार बिलकुल शून्य है। सामान्यतया हमें वस्तुओं के अस्तित्व की प्रतीति तो होती है किन्तु हम उनके तात्त्विक स्वरूप को समझ नहीं पाते। वहाँ हमारी बुद्धि परास्त हो जाती है। हमें यह निश्चय नहीं हो पाता कि वस्तु का यथार्थ स्वरूप सत्य है; असत्य है; सत्य भी है असत्य भी है; या न सत्य है न असत्य। इन चारों कोटियों से रहित होने के कारण ही वस्तुओं का स्वरूप 'शून्य' कहलाता है। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि वस्तुओं का पारमार्थिक स्वरूप वर्णनातीत है। इसी बात की पुष्टि के लिए प्रतीत्यसमुत्पाद का सहारा लिया जाता है। इसका अभिप्राय है वस्तुओं की परनिर्भरता अर्थात् वस्तुओं का कोई भी धर्म बिना किसी दूसरे धर्म की मदद के उत्पन्न नहीं हो सकता। अर्थात् जितने भी धर्म हैं; सभी शून्य हैं। इसीलिए नागार्जुन प्रतीत्यसमुत्पाद को ही शून्यता मानते हैं।

परा प्रकृतिर्भगवान् वासुदेवः; तद्विस्फुलिंगप्राया एव जीवा इति पाञ्चरात्राः परस्याः प्रकृतेः परिणामाभ्युपगमात् अव्यक्त एवाभिनिविष्टाः। सांख्यादयस्तु विज्ञानाकलप्रायां भूमिं अवलम्बन्ते।

सदेव इदमग्र आसीत् इति ईश्वरतत्त्वपदमाश्रिता अपरे श्रुत्यन्तविदः।

शब्दब्रह्ममयं पश्यन्तीरूपं आत्मतत्त्वमिति वैयाकरणाः श्रीसदाशिवपदमध्यासिताः। एवमन्यदपि अनुमन्तव्यम्।

पांचरात्र, जिनके विचार में प्रकृति ही परा (शक्ति) है, वासुदेव ही भगवान् है तथा सकल जीव उन्हीं के स्फुलिंग हैं, अव्यक्त (प्रकृति) को ही अपने सिद्धान्त का मूलाधार समझते हैं क्योंकि (उनके विचार में यह समस्त विश्व) पराप्रकृति का ही परिणाम है। सांख्यादि दर्शनों के अनुयायी विज्ञानाकल की स्थिति का ही समाश्रयण करते हैं।

यह (विश्व) प्रारम्भ से 'सत्' था यह मानने वाले उपनिषद् के अन्य चिन्तक ईश्वर तत्त्व की भूमिका में अवस्थित हैं।

श्री सदाशिव पद का अवलम्बन करने वाले वैयाकरणों के अनुसार शब्दब्रह्म द्वारा निर्मित 'पश्यन्ती' ही आत्मतत्त्व है। इसी प्रकार दूसरे भी मत समझे जा सकते हैं।

पांचरात्र— यह वैष्णव-दर्शन की प्रमुख शाखा है। इसकी उत्पत्ति, संभवतः, पाँच रातों तक लगातार चलने वाले किसी धार्मिक अनुष्ठान से हुई है। इसका अनुगमन करने वाले 'पांचरात्र' कहलाये। इनके अनुसार पराशक्ति ही विश्व की मूल कारण है। भगवान् वासुदेव ही इस सृष्टि के विधायक हैं तथा वे ही इसका नियमन करते हैं।

वैयाकरण—व्याकरण-दर्शन के अनुयायियों को वैयाकरण कहा जाता है। इनके अनुसार व्याकरण ही मोक्ष का साधन है। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में इसे 'पाणिनि-दर्शन' कहा गया है। इनके अनुसार 'शब्द ब्रह्म' ही परम तत्त्व है। ये 'शब्द' को अचेतन नहीं मानते। ब्रह्म इनके अनुसार एक शाश्वत शब्द है। इसी से अन्य सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं। त्रिक दर्शन इस शास्त्र का बड़ा ऋणी है क्योंकि 'परा' 'पश्यन्ती' आदि वाणी की शक्तियों की धारणा इसे व्याकरण शास्त्र से ही मिली है जिनका विश्व विकास की प्रक्रिया में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है।

एतच्च आगमेषु—

"बुद्धितत्त्वे स्थिता बौद्धा गुणेष्वेवार्हताः स्थिताः ।
स्थिता वेदविदः पुंसि अव्यक्ते पाञ्चरात्रिकाः ॥"

इत्यादिना निरूपितम् ।

विश्वोत्तीर्णमात्मतत्त्वमिति तान्त्रिकाः । विश्वमयमिति कुलाद्याम्नायनिविष्टाः । विश्वोत्तीर्णं विश्वमयं च इति त्रिकादिदर्शनविदः ।

इसी का आगमों में—

"बौद्ध लोग बुद्धि-तत्त्व को, जैन गुण को, वेदज्ञानी जीव को तथा पांचरात्र अव्यक्त (प्रकृति) को अपने सिद्धान्त का आधार मानते हैं।" इत्यादि के द्वारा निरूपण किया गया है।

तान्त्रिकों के मत में आत्मतत्त्व विश्व से परे है। कुलादि दार्शनिकों के अनुसार (यह आत्मतत्त्व) विश्वमय है। त्रिकादि दार्शनिकों के विचार में (आत्मतत्त्व) विश्वोत्तीर्ण तथा विश्वमय दोनों है।

कुल—त्रिक दर्शन की भाँति 'कुल' भी काश्मीर शिवाद्वयवाद की ही एक शाखा है। इसको 'कुल' इसलिए कहते हैं कि यह अपना परम तत्त्व 'कुल' को मानता है जो विश्व से भी आगे की स्थिति है। आगमों में इसका उल्लेख 'कौल' तथा 'कुल' दोनों नामों से मिलता है, तथा इसे सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त कहा गया

है। यह सिद्धान्त प्रत्यभिज्ञाशास्त्र से प्राचीन है क्योंकि प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के जनक सोमानन्द ने 'परात्रिंशिका' पर टीका की थी। 'परात्रिंशिका' कुल-शास्त्र का विवेचन करती है तथा इस शाखा के प्राचीनतम ग्रन्थों में से है। इसके अनुसार 'शाम्भवोपाय' मोक्ष का साधन है न कि 'अनुपाय'। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र से इसका यही प्रधान भेद है। इसके अतिरिक्त इसके अनुसार आत्मतत्त्व विश्वमय है जब कि त्रिक आत्मा को विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय दोनों मानता है।

एवं एकस्यैव चिदात्मनो भगवतः स्वातन्त्र्यावभासिताः सर्वा इमा भूमिकाः स्वातन्त्र्यप्रच्छादनोन्मीलनतारतम्यभेदिताः। अत एक एव एतावद्व्याप्तिक आत्मा। मितदृष्टयस्तु अंशांशिकासु तदिच्छयैव अभिमानं ग्राहिताः येन देहादिषु भूमिषु पूर्वपूर्वप्रमातृव्याप्तिसारताप्रथायामपि उक्तरूपां महाव्याप्तिं परशक्तिपातं विना न लभन्ते।

इस प्रकार से सारी भूमिकाएँ उन्हीं अकेले चिदात्मा भगवान् की स्वतन्त्र इच्छा से अवभासित हैं जो उनकी स्वतन्त्र इच्छा के ही प्रभाव से प्रच्छादन एवं उन्मीलन के भेद से अनेकों रूपों में (प्रतीत होती) हैं। अतः आत्मा ही इन सभी में व्याप्त है।

संकीर्ण दृष्टिकोण वाले लोग अंश तथा आंशिक में उसी की इच्छा से अभिमान ग्रहण करते हैं और इस प्रकार वे देहादि स्थलों में परम प्रमाता की व्यापकता पूर्णरूपेण व्यक्त होने पर भी चिति के शक्तिपात के बिना उक्त महाव्याप्ति को नहीं समझ सकते।

**यथोक्तम्—"वैष्णवाद्यास्तु ये केचित् विद्यारागेण रञ्जिताः।
न विदन्ति परं देवं सर्वज्ञं ज्ञानशालिनम्॥"**

इति। तथा—

"भ्रमयत्येव तान् माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया।"

इति,

"त आत्मोपासकाः शैवं न गच्छन्ति परं पदम्।"

इति च।

जैसा कि कहा गया है—

"विद्याराग से अभिभूत जितने भी वैष्णव आदि लोग हैं, वे सर्वज्ञ तथा सर्वज्ञानसम्पन्न परमदेव को नहीं समझ सकते।"

इसी प्रकार,

"माया उनकी मोक्षलिप्सा के कारण उनको बन्धन के भ्रम में डाले रहती है।"

अपरंच,

"वे आत्मा के उपासक लोग शिव के परमपद को नहीं प्राप्त कर सकते।"

अपि च सर्वेषां दर्शनानां समस्तानां नीलसुखादिज्ञानानां याः स्थितयः अन्तर्मुखरूपा विश्रान्तयः ताः तद्भूमिकाः चिदानन्दघनस्वात्मस्वरूपाभिव्यक्त्युपायाः।

और (हम यह भी कह सकते हैं कि) सभी दर्शनों की अखिल नीलसुखादि के ज्ञान की अर्थात् आभ्यन्तर सत्ता के साथ तादात्म्य की जो स्थिति अर्थात् विश्रान्ति है, वही उस (परमशिव) की भूमिकाएँ अर्थात् उसके चित् एवं आनन्द से युक्त स्वरूप की अभिव्यक्ति के उपाय हैं।

तथाहि–यदा यदा बहिर्मुखं रूपं स्वरूपे विश्राम्यति तदा तदा बाह्यवस्तूपसंहारः अन्तः प्रशान्तपदावस्थितिः तत्तदुदेष्यत्संवित्सन्तत्यासूत्रणं इति सृष्टिस्थितिसंहारमेलनरूपा इयं तुरीया संविद्भट्टारिका तत्तत्सृष्ट्यादिभेदान् उद्वमन्ती संहरन्ती च सदा पूर्णा च कृशा च उभयरूपा च अनुभयात्मा च अक्रममेव स्फुरन्ती स्थिता। उक्तं च श्रीप्रत्यभिज्ञाटीकायां—"तावदर्थावलेहेन उत्तिष्ठति पूर्णा च भवति" इति। एषा च भट्टारिका क्रमात् क्रमं अधिकमनुशील्यमाना स्वात्मसात्करोत्येव भक्तजनम् ॥८॥

क्योंकि जब जब (चित्) का बाह्यस्वरूप उसके आभ्यन्तर स्वरूप में विलीन हो जाता है तब तब बाह्य वस्तुओं का उपसंहार हो जाता है और वह अपने प्रशान्त आन्तरिक स्वरूप में ही स्थित रहता है और इसी प्रकार एक के बाद दूसरी संवित् (ज्ञान) का क्रम चलता रहता है। इस प्रकार सृष्टि, स्थिति एवं संहारस्वरूपा यह तुरीयसंवित्भट्टारिका जो सृष्ट्यादि के अन्यान्य भेदों को कभी प्रकट कर देती है, कभी छिपा लेती है, सदैव पूर्ण रहती है और कृश भी। इन दोनों रूपों से युक्त होते हुए भी इसका स्वरूप दोनों से भिन्न है। उसकी स्फुरत्ता का (देशकाल की दृष्टि से) कोई क्रम नहीं है।

जैसा कि श्रीप्रत्यभिज्ञा की टीका में कहा भी गया है—"चाहे कितनी भी अनवधानता से (चिति) अपना विकास करती है; किन्तु वह पूर्ण रहती

है।" और यही संवित् भट्टारिका अपने गहन चिन्तन करने वाले भक्तों को अपने में विलीन कर लेती है ॥८॥

यदि एवंभूतस्य आत्मनो विभूतिः तत्कथं अयं मलावृतोऽणुः कलादिवलितः संसारी अभिधीयते ? इत्याह—

चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी ॥९॥

यदा 'चिदात्मा' परमेश्वरः स्वस्वातन्त्र्यात् अभेदव्याप्तिं निमज्ज्य भेदव्याप्तिमवलम्बते, तदा 'तदीया इच्छादिशक्तयः' असंकुचिता अपि 'संकोचवत्यो' भान्ति। तदानीमेव च अयं 'मलावृतः संसारी' भवति। तथा च अप्रतिहतस्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्तिः संकुचिता सती अपूर्णमन्यतारूपं आणवं मलम्। ज्ञानशक्तिः क्रमेण संकोचात् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किंचिज्ज्ञत्वाप्तेः अन्तःकरणबुद्धीन्द्रियतापत्तिपूर्वं अत्यन्तं संकोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीयं मलम्। क्रियाशक्तिः क्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वस्य किंचित्कर्तृत्वाप्तेः कर्मेन्द्रियरूपसंकोचग्रहणपूर्वं अत्यन्तं परिमिततां प्राप्ता शुभाशुभानुष्ठानमयं कार्मं मलम्। तथा सर्वकर्तृत्वसर्वज्ञत्वपूर्णत्वनित्यत्वव्यापकत्वशक्तयः संकोचं गृह्णाना यथाक्रमं कलाविद्यारागकालनियतिरूपतया भान्ति। तथाविधश्च अयं शक्तिदरिद्रः संसारी उच्यते। स्वशक्तिविकासे तु शिव एव ॥९॥

यदि इस प्रकार के आत्मा का (यह) ऐश्वर्य है तो उसको मलावृत अणु कलादि (कञ्चुकों) से युक्त संसारी क्यों कहते हैं ? इसी (शंका) पर विचार करते हुए कहते हैं—

जब (इस) चित् सदृश (आत्मा) की शक्ति संकुचित हो जाती है तब यह मलावृत संसारी कहलाता है ॥९॥

जब परमेश्वर चिदात्मा अपनी स्वतन्त्र इच्छा से अभेद व्याप्ति को छोड़कर भेद व्याप्ति का समाश्रयण करता है तब उसकी इच्छादि शक्तियाँ संकुचित न होती हुई भी संकुचित जैसी लगती हैं ; और उसी समय यह 'मलावृत संसारी' हो जाता है।

अप्रतिहत-स्वातन्त्र्यरूप इच्छा-शक्ति संकुचित हो जाने पर 'आणव मल' कहलाती है। अपूर्णता का बोध ही आणव मल है।

ज्ञान-शक्ति का क्रम से संकोच होने के कारण भेद में सर्वज्ञाता अल्पज्ञाता के रूप में परिणत होता है, यह 'मायीय मल' है। इसका प्रारम्भ अन्तःकरण तथा ज्ञानेन्द्रिय के उदय से होता है। अत्यधिक (स्वरूप) संकोच के कारण वेद्य का भिन्नरूप में प्रथन इसका स्वरूप है।

क्रियाशक्ति ही क्रम से अत्यन्त परिमित हो जाने पर 'कार्ममल' हो जाती है; क्योंकि भेद में सर्वकर्तृत्व अल्पकर्तृत्व के रूप में परिणत हो जाता है। यह कर्मेन्द्रिय पर आधृत संकुचितावस्था से प्रारम्भ होता है तथा इसमें कर्ता शुभ और अशुभ (दोनों) करने पर तुल जाता है।

इस प्रकार सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व, व्यापकत्व आदि शक्तियाँ संकुचित हो जाने पर क्रमशः कला, विद्या, राग, काल तथा नियति के रूप में प्रतिभासित होती हैं।

उसी रूप में यह शक्ति-रहित (आत्मा) संसारी कहलाता है; और अपनी शक्ति के विकास होने से शिव ॥९॥

ननु संसार्यवस्थायामस्य किंचित् शिवतोचितं अभिज्ञानमस्ति येन शिव एव तथावस्थित इत्युद्घोष्यते ? अस्तीत्याह—

तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति ॥१०॥

इह ईश्वराद्वयदर्शनस्य ब्रह्मवादिभ्यः अयमेव विशेषः, यत्—

"सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम् ।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम् ॥"

इति श्रीमत्स्वच्छन्दादिशासनोक्तनीत्या सदा पंचविधकृत्यकारित्वं चिदात्मनो भगवतः। यथा च भगवान् शुद्धेतराध्वस्फारणक्रमेण स्वरूपविकासरूपाणि सृष्टयादीनि करोति तथा संकुचितचिच्छक्तितया संसारभूमिकायामपि पञ्चकृत्यानि विधत्ते। तथा हि—

"तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन् ।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद्बहिः ॥"

इति प्रत्यभिज्ञाकारिकोक्तार्थदृष्टया देहप्राणादिपदं आविशन् चिद्रूपो महेश्वरो बहिर्मुखीभावावसरे नीलादिकमर्थं नियतदेशकालादितया यदा आभासयति तदा नियतदेशकालाद्याभासांशे अस्य स्रष्टृता; अन्यदेशकालाद्याभासांशे अस्य संहर्तृता; नीलाद्याभासांशे स्थापकता; भेदेन आभासांशे विलयकारिता; प्रकाशैक्येन प्रकाशने अनुग्रहीतृता। यथा च सदा पञ्चविधकृत्यकारित्वं भगवतः तथा मया वितत्य स्पन्दसन्दोहे निर्णीतम्।

एवमिदं पञ्चविधकृत्यकारित्वं आत्मीयं सदा दृढप्रतिपत्त्या परिशील्यमानं माहेश्वर्यं उन्मीलयत्येव भक्तिभाजाम्। अत एव ये सदा एतत् परिशीलयन्ति, ते

स्वरूपविकासमयं विश्वं जानाना जीवन्मुक्ता इत्याम्नाताः । ये तु न तथा, ते सर्वतो विभिन्नं मेयजातं पश्यन्तो बद्धात्मानः ॥१०॥

क्या संसरणावस्था में उसमें 'शिवता' की स्थिति के अनुकूल कुछ अभिज्ञान होता है जिससे वह इस अवस्था में भी शिव ही समझा जाय ? इसीलिए तो कहा गया है–

उसी प्रकार (यह) भी (विश्वसम्बन्धी) कृत्यपञ्चक करता है ॥१०॥

यहाँ पर ईश्वराद्वय दर्शन का ब्रह्मवादियों से यही भेद है कि "सृष्टि, संहार, विलय, स्थिति तथा अनुग्रह के कर्त्ता भगवान् (शिव) अपने भक्तों के दुःखों के विनाशक हैं ।"

श्री स्वच्छन्दशास्त्र की इस उक्ति के अनुसार चिदात्मा भगवान् (शिव) सदैव कृत्यपञ्चक के विधायक हैं ।

जैसे भगवान् शुद्धेतराध्व के स्फुरण के समय अपने ही रूप के विकास के रूप में सृष्टि आदि (का विधान) करते हैं उसी प्रकार चित्शक्ति के संकुचित हो जाने पर संसार की भूमिका के भी कृत्यपञ्चक का विधान करते हैं ।

क्योंकि–

"तब व्यावहारिक क्षेत्र में भी, देह आदि में प्रविष्ट होकर भगवान् स्वेच्छा से आभ्यन्तर प्रकाश-पुञ्ज को बाह्य जगत् में भी प्रतिभासित करते हैं ।"

प्रत्यभिज्ञाकारिका की इस युक्ति के अनुसार चिद्रूप परमेश्वर जब देहप्राणादि में प्रविष्ट होकर (पुनः) बहिर्मुख होते समय नीलादिक पदार्थों को नियत देश तथा काल के क्रम से प्रतिभासित करता है, तो नियत देश काल आदि के आभास के अंश में इसको स्रष्टा, उस अंश में जहाँ देश-काल आदि का आभास नहीं होता वहाँ संहारकर्ता, नीलादि के आभास के अंश में स्थापक, भिन्नता के आभास के अंश में विलयकर्ता और जहाँ (दिव्य) प्रकाश के साथ अभिन्नरूप में स्फुरित होता है वहाँ इसको अनुग्रह-कर्ता मानते हैं ।

भगवान् किस प्रकार सदा पञ्चविधकृत्य के विधायक हैं इसकी विशद व्याख्या मैंने "स्पन्द सन्दोह" में की है ।

इस प्रकार आत्मा-सम्बन्धी इस पञ्चकृत्य-विधायकता का दृढ़ आस्था से परिशीलन करने वाले भक्तों को (वह) माहेश्वर्य का आभास करा देता है। इसी लिए कहा जाता है कि जो लोग 'सदैव इसका (चित्रूप शिव का) परिशीलन करते हैं वे जीवन्मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। (क्योंकि) वे विश्व को अपने ही रूप का विकास समझते हैं, और जो लोग इसके विपरीत सभी प्रमेय पदार्थों को भिन्न समझते हैं; उनकी आत्मा सदैव ही बद्ध रहती है ॥१०॥

न च अयमेव प्रकारः पञ्चविधकृत्यकारित्वे यावदन्योऽपि कश्चित् रहस्य-रूपोऽस्तीत्याह—

आभासनरक्तिविमर्शनबीजावस्थापनविलापनतस्तानि ॥११॥

'पञ्चविधकृत्यानि करोति' इति पूर्वतः संबध्यते। श्रीमन्महार्थदृष्ट्या दृगादिदेवीप्रसरणक्रमेण यत् यत् आभाति, तत्तत् सृज्यते। तथा सृष्टे पदे तत्र यदा प्रशान्तनिमेषं कंचित्कालं रज्यति तदा स्थितिदेव्या तत् स्थाप्यते। चमत्कारापरपर्यायविमर्शनसमये तु संहिते। यथोक्तं श्रीरामेण—

"समाधिवज्रेणाप्यन्यैरभेद्यो भेदभूधरः।
परामृष्टश्च नष्टश्च त्वद्भक्तिबलशालिभिः॥"

इति। यदा तु संह्रियमाणमपि एतत् अन्तः विचित्राशंकादिसंस्कारं आधत्ते, तदा तत्पुनरुद्भविष्यत् संसारबीजभावमापन्नं विलयपदमध्यारोपितम्। यदा पुनः तत्तथान्तः स्थापितं अन्यद्वानुभूयमानमेव हठपाकक्रमेणालंग्रासयुक्त्या चिदग्नि-साद्भावमापद्यते, तदा पूर्णतापादनेन अनुगृह्यत एव।

उपर्युक्त (उसकी) कृत्यपंचककारिता का केवल यही स्वरूप नहीं है, प्रत्युत एक दूसरा रहस्यमय स्वरूप भी है। इसी बात को ध्यान में रखकर कहते हैं—

इनका आधार है आभासन, अनुरक्ति, विमर्श, बीजारोपण तथा विलयन ॥११॥

'कृत्यपंचक का विधान करता है।' यह पूर्वसूत्र की व्याख्या से समझ लेना चाहिए। श्रीमन् महार्थ को यदि दृष्टि में रखें तब तो (वस्तुतः) उसी का सर्जन होता है जो दृगादि देवी के क्रमशः प्रसार के द्वारा प्रति-भासित होता है। (और वह) इस प्रकार सर्जित भूमि में विश्राम करते

समय कुछ समय के लिए अनुरंजित होता है तो स्थिति-देवी के द्वारा स्थापित कर दिया जाता है ।

चमत्कार के अपरपर्याय विमर्श के समय (इसका) संहार हो जाता है । जैसा कि श्रीराम ने कहा है--

"भेद रूपी जिस पर्वत का भेदन दूसरे लोग समाधि रूपी वज्र के द्वारा भी नहीं कर पाये, तेरी भक्ति के बल से युक्त पुरुषों ने (उसका) भेदन ही नहीं, विनाश कर डाला ।"

और जब वह भाव हृदय में जम जाता है अथवा इससे उसे कुछ विपरीत (दुःखादि की) अनुभूति होती है (पर वह साधक उसको) हठपाक के समय अलंग्रास की युक्ति से चिदग्नि द्वारा भस्म कर देता है तो पूर्णत्व प्राप्त कर लेने के कारण अनुग्रह की स्थिति में प्रवेश पा लेता है ।

हठपाक तथा अलंग्रास—हठपाक तथा अलंग्रास की युक्ति से चिद्रूपा अग्नि के तादात्म्य का स्पष्ट अर्थ यही है कि जिस प्रकार अनवरत ढंग से स्थिरसाधना द्वारा पाक परिपक्वता पर पहुँचता है अथवा समस्त भोज्य पदार्थ जिस प्रकार उदरसात् होता है उसी प्रकार स्थिर साधना से विश्ववैभव का आत्मस्थ होना ही अनुग्रह है । डा० सूर्यकान्त की दृष्टि में इसको शैव-सिद्धान्त के मलपरिपाक से समीकृत किया जा सकता है । मल-परिपाक का, शोमेरस के अनुसार, अभिप्राय यह है कि इस स्थिति में आत्मा के ऊपर से आणव मल का प्रभाव लगभग समाप्त हो जाता है । वह उससे उतना ही सम्बद्ध रहता है जितना कि ठीक पका हुआ फल वृक्ष के पल्लव से; मल-परिपाक के ठीक ही उपरान्त अनुग्रह अथवा शक्तिपात के द्वारा मुक्ति की स्थिति आती है । ठीक यही बात "हठपाक" के विषय में भी कही जा सकती है । इसके अतिरिक्त 'हठ' से हठयोग की ओर भी संकेत है । हठपाक का अभिप्राय योग की अत्यन्त गहरी तथा कठिन मुद्रा से हो सकता है ।[1] इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन दोनों से योग तथा पंचाग्नि इत्यादि तप-प्रकारों के सम्बन्ध का पता लग जाता है ।

ईदृशं च पञ्चविधकृत्यकारित्वं सर्वस्य सदा सन्निहितमपि सद्गुरूपदेशं विना न प्रकाशत इति सद्गुरुसपर्यैव एतत्प्रथार्थमनुसर्तव्या ॥११॥

और इस प्रकार का कृत्यपंचक कर्तृत्व सबके हृदय में सदैव विद्यमान रहते हुए भी सद्गुरु के उपदेश के बिना प्रकाशित नहीं होता है । अतएव

---

१. प्र० हृ० अ० ला०, टिप्पणी १६५

प्र० हृ० सू० १४ तथा उस पर वृत्ति

इसके प्रकाशनार्थ भक्तिपुरस्सर सद्गुरु का अनुसरण करना चाहिए ॥११॥

यस्य पुनः सद्गुरूपदेशं विना एतत्परिज्ञानं नास्ति तस्यावच्छादितस्वस्वरूपाभिः निजाभिः शक्तिभिः व्यामोहितत्वं भवतीत्याह––

तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम् ॥१२॥

तस्यैतस्य सदा सम्भवतः पञ्चविधकृत्यकारित्वस्य अपरिज्ञाने शक्तिपातहेतुकस्वबलोन्मीलनाभावात् अप्रकाशने स्वाभिः शक्तिभिः व्यामोहितत्वं विविधलौकिकशास्त्रीयशङ्काशङ्कुकीलितत्वं यत् इदमेव संसारित्वम् । तदुक्तं श्रीसर्ववीरभट्टारके––

"अज्ञानाच्छङ्कते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहृतिः ।" इति ।

सद्गुरु के उपदेश के बिना जिसको उक्त (कृत्यपंचक के) कर्तृत्व सम्बन्धी) परिज्ञान नहीं होता वह अपनी शक्तियों द्वारा ही विमोह में पड़ जाता है, क्योंकि उन (शक्तियों) का स्वरूप उसके लिए स्पष्ट नहीं रहता। इसी बात पर (विचार करते हुए) कहते हैं––

संसारी होने का अभिप्राय है––उक्त परिज्ञान के अभाव में अपनी ही शक्तियों द्वारा मोह में पड़ जाना ॥१२॥

उसके अर्थात् सदैव विद्यमान रहने वाले कृत्यपंचक कर्तृत्व के अपरिज्ञान अर्थात् शक्तिपात-सम्बन्धी अपनी शक्ति के विकास न होने के कारण उसके प्रकट न होने से, अपनी ही शक्तियों से विमोहीकरण अर्थात् नाना प्रकार की लौकिक तथा शास्त्रीय शंकाओं रूपी कीलों में फँसना ही संसारी होना है । जैसा कि सर्ववीरभट्टारक में कहा गया है––

"अज्ञान वश ही लोग शंका में पड़ जाते हैं, और यही सृष्टि एवं संहार का मूल है ।"

तथा,

"मन्त्रा वर्णात्मकाः सर्वे सर्वे वर्णाः शिवात्मकाः ।"

इति च । तथा हि––चित्प्रकाशात् अव्यतिरिक्ता नित्योदितमहामन्त्ररूपा पूर्णाहंविमर्शमयी येयं परा वाक्शक्तिः आदिक्षान्तरूपाशेषशक्तिचक्रगर्भिणी सा तावत् पश्यन्तीमध्यमादिक्रमेण ग्राहकभूमिकां भासयति ।

"सभी मन्त्र वर्णात्मक हैं और सभी वर्ण शिव से युक्त हैं ।"

क्योंकि चित्-प्रकाश से अनतिरिक्त नित्योदित-महामन्त्ररूप पूर्ण अहं विमर्श-रूप 'अ' से लेकर 'क्ष' तक के निखिल शक्तिचक्र से युक्त परा वाक् शक्ति ही पश्यन्ती, मध्यमा आदि के क्रम से ग्राहक भूमि को प्रतिभासित करती है।

मन्त्र—यद्यपि मन्त्र, जैसा कि डा० सूर्यकान्त का अनुमान है, हो सकता है प्राचीन 'ऐन्द्रजालिक' कौतुक के ही मुख्य अंग रहे हों।[1] किन्तु हमारे शास्त्र में भी इनका कम महत्त्व नहीं है। अभिनव ने उन्हें 'स्वरूपानुगुणक' कहा है। उनके अनुसार वे अनुभूति के ही अङ्ग हैं। मन्त्रों की शैवधारणा इसी मान्यता पर आधृत है। महार्थमञ्जरी की उक्ति है—

> **"मननमयी निज-विभवे निज-संकोचभये त्राणमयी।**
> **कवलितविश्वविकल्पा अनुभूतिः कापि मन्त्रशब्दार्थः।"**[2]

महेश्वरानन्द की कल्पना तो और व्यापक है। उनके अनुसार **"हेतुद्वयेन वेद्यविक्षोभसर्वग्रासविश्रृंखलोल्लासायानुभूतिः स्वहृदयैकसंवेद्या विमर्शशक्तिः सैव मन्त्रः।"**[3] श्री राजभट्टारक कहता है—

> **'वर्णात्मको न मन्त्रो दशभुजदेहो न पंचवदनोऽपि।**
> **संकल्पपूर्वकोटी नादोल्लासो भवेन्मन्त्रः।"**[4]

क्षेमराज को भी वही मान्यता स्वीकार्य है। वह तो अपनी शिवसूत्र-विमर्शिनी के **"शाक्तोपाय"** नामक प्रकरण का आधार ही मन्त्र को मानते हैं। वसुगुप्त तो चित्त को ही मन्त्र मानते हैं, **"चित्तं मन्त्रः।"**[5] क्षेमराज इसी पर व्याख्या करते हुए कहते हैं, **"चेत्यते विमृश्यते अनेन परं तत्त्वम् इति चित्तं, पूर्वस्फुरत्ता सतत्वाप्रासादप्रणवादिविमर्शरूपं संवेदनम्, तदेव मन्त्र्यते गुप्तम्, अन्तरभेदेन विमृश्यते परमेश्वरस्वरूपम् अनेन, इतिकृत्वा मन्त्रः"**[6] जो अनुभूति का प्रत्यायक है। शिवसूत्र के अनुसार 'विद्याशरीर सत्ता' ही मन्त्र का रहस्य है, **"विद्याशरीरसत्ता मन्त्ररहस्यम्।"**[7] इस पर क्षेमराज कहते हैं परा तथा

---

१. प्र० हृ० अ० ला०, टि० १६६
२. म० मं०, पृ० ४८
३. म० म०, टी० पृ० १०४
४. वहीं पर उद्धृत
५. शि० सू० वि०, पृ० ४७
६. शि० सू० वि०, पृ० ४७
७. शि० सू० वि०, पृ० ५०

अपरा दोनों विद्याओं का शरीर है शब्दराशि। उसी की सत्ता अर्थात् समग्र विश्व की अभेदमय पूर्ण अहंविमर्शनात्मा स्फुरत्ता ही मन्त्रों का रहस्य है।[1] श्री 'तन्त्रसद्भाव' भी सभी मन्त्रों का स्वरूप वर्णों को मानकर उनका स्रोत-बिन्दु भगवान् शिव को ही मानता है—

> "सर्वे वर्णात्मका मन्त्रास्ते च शक्त्यात्मकाः प्रिये।
> शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका॥"[2]

इस प्रकार मन्त्र ही वर्णों के आधार ठहरते हैं। ये मन्त्र नित्योदित हैं।

शक्तिचक्र—शक्तिचक्र से अभिप्राय वर्णों का समूह है। वर्णों का समूह ही तो परावाक्शक्ति की शक्ति है। इसी को 'मालिनी विजय' में गुरुवक्त्र कहा गया है, **"शक्तिचक्रं तदेवोक्तं गुरुवक्त्रं तदुच्यते।"**[3] 'मन्त्रशिरोभैरव' भी इसी का समर्थन करता है, **"गुरोर्गुरुतरा शक्तिर्गुरुवक्त्रगता भवेत्।"** इस शक्ति का ज्ञान उसी को होता है जिस पर गुरु प्रसन्न हो जाता है। क्षेमराज शिवसूत्र सं० ७ **"मातृका चक्र-संबोधः"** की व्याख्या करते समय विश्व की प्रक्रिया के साथ इस शक्ति के सम्बन्ध का निरूपण करते हैं। उनके अनुसार स्वर अन्त-र्जगत् के प्रतीक हैं तथा हल् बाह्यजगत् के। 'ह' में अमरत्व का बीज विद्यमान है तथा 'क्ष' जीवनांकुर है। इस प्रकार वह पाँच मूल स्वरों—अ, इ, उ, ऋ तथा लृ—तथा हल् के पाँचों वर्गों के बीच में रहस्यात्मक सम्बन्ध स्थापित करते हैं।[4] इसमें वह अपना आधार 'परात्रिंशिका विवरण' तथा 'तन्त्रालोक' को मानते हैं, **"विततं तु अस्मत्प्रभुपादैः श्री परात्रिंशिकाविवरणतन्त्रालोकादौ प्रकाशितम्।"**[5]

परावाक्—परावाक् ही अन्य तीनों वाक्शक्तियों की उद्गम बिन्दु है। यह शुद्धामर्शमयी वाणी सभी प्रकार के देशकालादि की सीमाओं से परे है **"अदेश-कालकलितायां संविदि निरूढा।"**[6] यह अहंविमर्शमयी कही जा सकती है तथा शरीर मन अन्तर्वायु आदि से सर्वथा असम्बद्ध है। यह अहंविमर्शमयी परिमित प्रमाता के सन्दर्भ में कही जाती है जो कि वैखरी के स्तर पर पहुँच कर दूसरी

---

१. शि० सू० वि०, पृ० ५०
२. वहीं पर उद्धृत
३. शि० सू० वि०, पृ० ६० पर उद्धृत
४. शि० सू० वि०, पृ० ६०-६७
५. शि० सू० वि०, पृ० ६४-६५
६. परा० वि०, पृ० ४

की उत्पत्ति पहले से समझता है। कारण यह कि परावाक् पूर्ण ऐक्य की स्थिति है; इसमें भेद का लेश भी नहीं रहता। भेद का उदय तो पश्यन्ती की अवस्था में होता है। सामान्य जीवन में प्रयुक्त समग्र शब्दराशि की उदय-केन्द्र यही वाक् है।

पश्यन्ती—पश्यन्ती परावाक् से समुद्भूत प्रथम भेदमूला वाणी है, "**प्रथमतां परमहामंत्रमय्याम्**.........**पश्यन्त्युदविष्यत्**.........।"[1] पश्यन्ती में भेद का आसूत्रण मात्र होता है, "**तन्मध्य एव तु पश्यन्त्यां यत्र भेदांशस्यासूत्रणम्।**"[2] इस प्रकार के भेद का उदय उस इच्छा से होता है जो इसका कारण है। जिस प्रकार स्मृति इत्यादि स्थलों पर यद्यपि स्मरणकर्ता का सम्बन्ध अनेक विचारों से होता है किन्तु स्मृति में उसी विचार का उदय होता है जिसके उदय का अति सन्निकृष्ट कारण उपस्थित होता है।

मध्यमा—यह पश्यन्ती के ठीक बाद की अवस्था है। इस अवस्था में, यद्यपि विचार तथा वाणी के मध्य उच्चारण के पूर्व का भेद स्पष्ट हो जाता है, तथापि दोनों के अधिकरण का भेद नहीं स्पष्ट हो पाता। जिस प्रकार किसी श्याम घट में यद्यपि श्यामत्व से घट की भिन्नता का ज्ञान हमें रहता है किन्तु घट का अधिकरण श्यामत्व के अधिकरण से भिन्न नहीं होता। उदाहरण के लिए जब आप कोई मार्मिक व्याख्यान दे रहे हों, उस स्थिति में यद्यपि आप प्रत्येक विचार तथा शब्द का चयन बड़ी सावधानी से कर लेते हैं, तथा यद्यपि इन दोनों के अन्तर का स्पष्ट पता रहता है, फिर भी आप देखते होंगे कि अधिकरण के भेद का पता नहीं चल पाता।

आदि—आदि से वैखरी की ओर संकेत है जो परावाक् से ही समुद्भूत तीसरी वाक् है। यह वह वाणी है जिसका प्रयोग हम अपने दैनिक जीवन में करते हैं। मध्यमा तो वाच्यवाचक का भेद प्रदर्शित करके पुनः उनके सामानाधिकरण्य के विमर्श से युक्त हो जाती है अर्थात् मध्यमा की स्थिति में वाच्यवाचक का भेद स्पष्ट होकर भी पुनः अभिन्न सा लगता है किन्तु वखरी में उन दोनों का भेद स्फुटतया प्रतीत होता है।[3]

इन चारों का भेद स्पष्ट हो जाएगा यदि हम इनकी तुलना एक ऐसे बीज से करें जिसमें अभी अंकुर नहीं निकले। 'परा' वही बीज है जिसमें अन्य तीनों

---

१. परा० वि०, पृ० ४
२. वही, पृ० ६
३. वही, पृ० ५

एकात्मना अवस्थित हैं। पश्यन्ती उस स्थिति से साम्य रखती है जिसमें बीज में कुछ विकार उत्पन्न होने लगते हैं। मध्यमा उस स्थिति की द्योतक है जब बीज फूल जाता है तथा फट भी जाता है किन्तु अंकुर का स्पष्टतया भान नहीं होता तथा वैखरी वह स्थिति है जब अंकुर बीज से निकल पड़ता है और बीज से उसके भेद का स्फुटतया भान होने लगता है। अंतिम तीनों वाणियां ही ग्राहक के हृदय में किंचित् प्रकाश उत्पन्न करती हैं।

तत्र च परारूपत्वेन स्वरूपं अप्रथयन्ती मायाप्रमातुः अस्फुटासाधारणार्थावभासरूपां प्रतिक्षणं नवनवां विकल्पक्रियां उल्लासयति। शुद्धामपि च अविकल्पभूमिं तदाच्छादितामेव दर्शयति।

और वहाँ (ग्राहक भूमि पर) 'परा' रूप धारण करके अपने स्वरूप को छिपाकर माया प्रमाता की विकल्प क्रिया उत्पन्न करती है; जो अव्यक्त तथा असाधारण पदार्थों का आभास करने वाली है तथा क्षण-प्रतिक्षण नवीन रूप धारण करने वाली है। और (वही) शुद्ध अविकल्प भूमि को भी प्रदर्शित करती है जो उस (विकल्प भूमि) से आच्छादित है।

विकल्प--विकल्प की धारणा त्रिक ने योग से ली है। योग में "विकल्प" एक "वृत्ति" है जो "शब्दज्ञानानुपाती" तथा "वस्तुशून्य" होता है, **"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।"**[1] बर्नेट के अनुसार योगी ऐसे विकल्प (कल्पनाएँ) छोड़ देता है कि "मैं मुक्त प्राणी हूँ तथा कर्माधीन और कर्ममय हूँ; ये बच्चे तथा पत्नियाँ मेरी हैं; इस कार्य के द्वारा मुझे वैकुण्ठ मिलेगा।" पूर्णविमर्श से अनुप्राणित होकर वह इस प्रकार के विचारों को परमात्मा के प्रकाश में विलीन कर देता है तथा अपने को उसी में विलीन कर देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विकल्प अज्ञानी जीव की वह संकुचित भावना है जो सत्य से सर्वथा भिन्न है तथा विभिन्न विषयों में भेद स्थापित करती है। और इस प्रकार किसी के साथ किसी का सम्बन्ध स्थापित करती है तथा किसी को बहिष्कृत करती है और आत्मा को अवच्छिन्न बना देती है। यहाँ भी इस का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है।

अविकल्प—अविकल्प विकल्प से भिन्न अवस्था की द्योतक है।

तत्र च ब्राह्म्याादिदेवताधिष्ठितककारादिविचित्रशक्तिभिः व्यामोहितो देहप्राणादिमेव परिमितं अवशं आत्मानं मन्यते मूढजनः। ब्राह्म्यादिदेव्यः पशु-

---

१. यो० सू० स० पा० सू० ९

दशायां भेदविषये सृष्टिस्थिती अभेदविषये च संहारं प्रथयन्त्यः परिमितविकल्प-पात्रतामेव संपादयन्ति ।

और उस परिस्थिति में ब्राह्मी आदि देवियों से युक्त ककार आदि विविध शक्तियों से विमोहित होकर मूढ़ मानव सोचने लग जाता है कि आत्मा परिच्छन्न है और यह देह प्राणादि के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं ।

ब्राह्मी आदि देवियाँ पशुदशा में भेद की अवस्था में सृष्टि तथा स्थिति और ऐक्य की अवस्था में संहार प्रकट करने के कारण परिमितविकल्प की धारणा को ही दृढ़ करती हैं ।

ब्राह्मी—ब्राह्मी को ब्रह्माणी समझना भ्रान्ति होगी । यह भी पराशक्ति के ऊपर आश्रित एक शक्ति है । वह इस विश्वप्रपंच को व्याप्त किये हुए है तथा मानव-जाति को दिग्भ्रान्त करती रहती है ।

पतिदशायां तु भेदे संहारं अभेदे च सर्गस्थिती प्रकटयन्त्यः क्रमात् क्रमं विकल्प-निर्ह्रासनेन श्रीमद्भैरवमुद्रानुप्रवेशमयीं महतीमविकल्पभूमिमेव उन्मीलयन्ति ।

(इसके विपरीत) पति दशा में भेद में संहार और ऐक्य में सृष्टि तथा स्थिति प्रकट करती हुई विकल्प के क्रमिक ह्रास के द्वारा श्रीमान् भैरवमुद्रा में प्रवेश कराने वाली (ये शक्तियाँ) महान् अविकल्प भूमि का उन्मीलन करती हैं ।

भैरवमुद्रा—मुद्रा मन्त्र के साथ चलती रहती है । त्रिकशास्त्र में प्रायः इसी प्रकार का वर्णन मिलता है । मुद्रा की व्युत्पत्ति मुद् (प्रसन्न करना) धातु से हुई है । उपासना के साथ मुद्रा का सम्बन्ध होता है । **"देवानां मोददा मुद्रा तस्मात्तां यत्नतश्चरेत् ।"** शब्दकल्पद्रम के अनुसार मुद्राएँ कुल १०८ हैं जिनमें प्रचलित केवल ५५ हैं ।

मुद्रा का प्रयोजन है–अभ्यास द्वारा स्थिरता की प्राप्ति । हठयोग में वर्णित मुद्राएँ शारीरिक स्थितियों की द्योतक हैं । घेरण्डसंहिताकार के अनुसार मुद्रा एक व्यायाम है, आरोग्यवर्द्धिका है तथा रोग और मृत्यु से रक्षा करती है । शरीर तथा मन की पूर्णसाम्यावस्था की द्योतक, यह किसी भी प्रकार की उपलब्धि का अमोघ अस्त्र है ।

योगाभ्यास में तो इसका असाधारण महत्त्व स्वीकार किया गया है । अपने विकास की प्रथम स्थिति में अंगूठी का वाचक होकर भी इसका अर्थ समृद्ध और विकसित होता रहा और योग की पारिभाषिक शब्दावली में आ गया ।

वहाँ इसका सम्बन्ध श्वास-निरोध से है।[1] "हठयोगप्रदीपिका" और "घेरण्ड-संहिता" दोनों में मुद्रा के लिए "बन्ध" तथा "बन्धन" शब्दों का प्रयोग होता रहा है। भैरवीमुद्रा के विषय में कहा जाता है कि यह खेचरी मुद्रा से भिन्न नहीं किन्तु' 'योगप्रदीपिका" तथा "घेरण्डसंहिता" में यद्यपि मुद्राओं का बड़ा विस्तृत वर्णन किया गया है; किन्तु इसका और कहीं संकेत नहीं मिलता। भैरव शिव के रौद्ररूप का प्रत्यायक है। इसी रूप में शिव समग्र विश्व को उदरसात् कर लेते हैं। इसीलिए अन्य "करङ्किणी" आदि मुद्राओं के प्रसंग में इसका भी वर्णन करते हुए 'विज्ञानभैरव' के टीकाकार शिवोपाध्याय कहते हैं, **"स्वस्मिन् या सर्वं संहरते सा भैरवी इति मेलापसिद्धानां मुद्रा"** तथा "स्वरूपसंहरणात् भैरवी"।[2]

"सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता॥"

इत्यादि रूपां चिदानन्दावेशमग्नां शुद्धविकल्पशक्तिमुल्लासयन्ति। ततः उक्तनीत्या स्वशक्तिव्यामोहिततैव संसारित्वम्।

जो व्यक्ति यह सम्यक्रूपेण समझ लेता है कि यह समस्त वैभव मेरा ही है, वह नाना विकल्पों के फैले रहने पर भी अपनी आत्मा के सभी पदार्थों से तादात्म्य के कारण माहेश्वर्य की स्थिति प्राप्त कर लेता है।

इत्यादि रूपों में (ये ब्राह्मी आदि देवियाँ) चित् एवं आनन्द में पूर्ण रूपेण निमग्न शुद्धविकल्प-शक्ति का प्रस्फुरण करती हैं। अतः उक्त व्याख्या के अनुसार संसारी होने का अभिप्राय है—अपनी ही शक्तियों द्वारा मोहित होना।

किंच चितिशक्तिरेव भगवती विश्ववमनात् संसारवामाचारत्वाच्च वामेश्वर्याख्या सती खेचरीगोचरीदिक्चरीभूचरीरूपैः अशेषैः प्रमात्रन्तःकरणबहिष्करण-भावस्वभावैः परिस्फुरन्ती पशुभूमिकायां शून्यपदविश्रान्ता किंचित्कर्तृत्वाद्यात्मक-कलादिशक्त्यात्मना खेचरीचक्रेण गोपितपारमार्थिकचिद्गगनचरीत्वस्वरूपेण चकास्ति।

और (यदि सूत्र की व्याख्या दूसरे रूप में करें तो) भगवती चिति-शक्ति ही विश्ववमन तथा संसार के वामाचारों के कारण वामेश्वरी की पदवी धारण करती हुई अखिल प्रमातावर्ग के अन्तःकरण तथा बहि-

---

१. प्र० हृ० अ० ला०, टि० १७३

२. वि० भै० वि०, पृ० ६७

ष्करण और नाना पदार्थों के द्वारा (अपने को) खेचरी, गोचरी, दिक्चरी तथा भूचरी आदि रूपों में प्रस्फुरित करती है।

पशुभूमिका में शून्यपद में विश्रान्त होकर किंचित् कर्तृत्वादि गुणों तथा कलादि शक्तियों से युक्त खेचरी चक्र के द्वारा चिद्गगनचरी के रूप में (चितिशक्ति) विस्फुरित होती है; जिसका पारमार्थिक स्वरूप अव्यक्त है।

वामेश्वरी——श्री शिवोपाध्याय के अनुसार खेचरी मुद्रा से जिन परादेवी का प्रकाश होता है उन्हीं की "वामेश्वरी" अथवा श्री "व्योमेशी" आख्या भी है "**खेचर्या-द्वरम् आकाशदर्शनार्थं प्रसृतया मुद्रया उपलक्षिते दृष्टिसमये परादेवीप्रकाशनम् श्री व्योमेशी वामेश्वरी इत्यादिशब्दवाच्यायाः निष्कलादेव्याः सात्म्यम्**"[1] यही "व्योमेश्वरी" निष्कल होते हुए भी सकलरूप त्रैलोक्य में वृन्दचक्रपर्यन्त स्फुरित होती रहती है। वह आदि है तथा अनेकों रूपों में प्रस्फुरित होते हुए भी एक है। वह खेचरी आदि चार मुद्राओं को वैसे ही क्रोडीकृत कर लेती है जैसे मयूर के अण्डे का रस जीवपिण्ड को। यह प्रथम स्पन्दरूपा है तथा यही वामेश्वरी आदि कोटि है। यह सर्वस्वरूपा है और इसी से शाम्भव, शाक्त, मेलाप तथा मन्त्रज्ञान के भेद से खेचरी भूचरी, संहारिणी तथा रौद्री से युक्त होने के कारण ६४ योगिनी स्वरूपा है।[2]

भूचरी आदि——ये चारों वामेश्वरी देवी के ही चार निम्न स्तर हैं। खेचरी उसे कहते हैं जो आकाश में विचरण करती है (खे चरति सा खेचरी); तथा गोचरी वह शक्ति है जो प्रकाशपुंज में विचरण करती रहती है; दिक्चरी वह है, जो दशों दिशाओं में घूमती रहती है, तथा भूचरी वह है जो पृथिवी मण्डल पर चक्कर लगाती है।

इन चारों रूपों में थोड़ा सा पौराणिक संस्पर्श अवश्य है किन्तु यहां हमारा सम्बन्ध विश्व के विकास की चार अवस्थाओं से है। ये अवस्थाएँ हैं—प्रमाता, अन्तरिन्द्रियाँ, बाह्येन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ) तथा कर्मेन्द्रियां और विषय जाल। इनमें से अन्तिम ऐसी अवस्था है जो किसी प्रकार से प्रमाता की विरोधी नहीं है; अपितु प्रमिति प्रक्रिया की यह अन्तिम अवस्था है। जिसमें परिमित प्रमाता को पहिले ज्ञानेन्द्रियों द्वारा भेद के विषय का पता चल जाता है तत्पश्चात् कर्मेन्द्रियों द्वारा उस भेदापन्न सत्ता की प्रत्यक्षानुभूति होती है और अन्त में वह उस अनुभूतिगत

---

१. वि० भै० वि०, पृ० ६७
२. वि० भै० वि०, पृ० ६८

सत्ता का विषयीकरण करता है; अथवा इस भौतिक जगत् की सत्ता की व्याख्या करता है।[1]

चिद्गगनचरी—चिद्गगनचरी, जैसा डा० सूर्य नारायण का विचार है, खेचरी का ही दूसरा स्वरूप है। चिद्गगन अर्थात् चित्रूपी आकाश तथा वहाँ विचरण करने वाली शक्ति चिद्गगनचरी कहलायी। ये सारी देवियाँ विश्व में मनोवैज्ञानिक विकास की परिचायक हैं।

भेदनिश्चयाभिमानविकल्पनप्रधानान्तःकरणदेवीरूपेण गोचरीचक्रेण गोपिताभेदनिश्चयाद्यात्मकपारमार्थिकस्वरूपेण प्रकाशते। भेदलोचनादिप्रधानबहिष्करणदेवतात्मना च दिक्चरीचक्रेण गोपिताभेदप्रथात्मकपारमार्थिकस्वरूपेण स्फुरति। सर्वतो व्यवच्छिन्नाभासस्वभावप्रमेयात्मना च भूचरीचक्रेण गोपितसार्वात्म्यस्वरूपेण पशुहृदयव्यामोहिना भाति। पतिभूमिकायां तु सर्वकर्तृत्वादिशक्त्यात्मकचिद्गगनचरीत्वेन, अभेदनिश्चयाद्यात्मना गोचरीत्वेन, अभेदालोचनाद्यात्मना दिक्चरीत्वेन, स्वाङ्गकल्पाद्वयप्रथासारप्रमेयात्मना च भूचरीत्वेन प्रतिहृदयविकासिना स्फुरति। तथा चोक्तं सहजचमत्कारपरिजनिताकृतकादरेण भट्टदामोदरेण विमुक्तकेषु—

"पूर्णाविच्छिन्नमात्रान्तर्बहिष्करणभावगाः।
वामेशाद्याः परिज्ञानाज्ञानात् स्युर्मुक्तिबन्धदाः॥"
इति। एवं च निजशक्तिव्यामोहिततैव संसारित्वम्।

यह (चितिशक्ति) भेद के निश्चय, अभिमान तथा विकल्पप्रधान अन्तःकरण देवीरूप गोचरीचक्र के द्वारा ऐक्यादि के निश्चय से युक्त अपने पारमार्थिक स्वरूप को छिपा कर अपने को प्रकाशित करती है।

यह भेद प्रत्यक्षप्रधान बहिष्करण देवतात्मक दिक्चरीचक्र के द्वारा प्रस्फुटित होती है, और ऐक्य को व्यक्त करने वाले अपने पारमार्थिक स्वरूप को छिपा कर रखती है।

इसके अतिरिक्त (यह) पूर्णरूपेण परिमित आभास से युक्त प्रमेय वाले भूचरी-चक्र से अपने सार्वभौम स्वरूप को छिपाकर विमोहित हृदय वाले पशु के रूप में प्रस्फुरित होती है।

(इसके विपरीत यह) पति भूमिका में निखिल कर्तृत्व आदि शक्तियों से युक्त चिद्गगनचरी के रूप में, ऐक्यादि के निश्चय से युक्त गोचरी

---

१. प्र० हृ० अ० ला०, टि० १७७

(चक्र) के रूप में, ऐक्य का प्रत्यक्ष कराने वाली दिक्चरी के रूप में तथा अद्वैत को स्वशरीर से अभिन्न बताने वाले प्रमेय से युक्त भूचरी के रूप में स्फुरित होती है तथा प्रमाता के हृदय को विकसित कर देती है।

यही बात भट्टदामोदर, जिन्हें अपने सहज चमत्कार के कारण अनायास ही आदर प्राप्त है, अपने मुक्तकों में कहते हैं—

"प्रमाता के अन्तःकरण तथा बहिष्करण एवं अन्य पदार्थों में रहने वाली पूर्ण तथा परिमित वामेश्वरी आदि (देवियाँ) सम्यक् ज्ञान और अज्ञान से क्रमशः मुक्ति और बन्ध प्रदान करती हैं।"

इस प्रकार अपनी शक्ति द्वारा मोहित होना ही संसारी होना है।

अपि च चिदात्मनः परमेश्वरस्य स्वा अनपायिनी एकैव स्फुरत्तासारकर्तृतात्मा ऐश्वर्यशक्तिः। सा यदा स्वरूपं गोपयित्वा पाशवे पदे प्राणापानसमानशक्तिदशाभिः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तभूमिभिः देहप्राणपुर्यष्टककलाभिश्च व्यामोहयति तदा तद्व्यामोहितता संसारित्वम्।

और (सूत्र की एक तीसरी व्याख्या के अनुसार) चिदात्मा परमेश्वर की अकेली क्षयरहित ऐश्वर्यशक्ति ही स्फुरत्ताप्रधान कर्ता है। वह जब अपने स्वरूप को छिपाकर पशु प्रमाता की भूमि में प्राण, अपान तथा समान दशाओं के जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं तथा देह, प्राण एवं पुर्यष्टक कलाओं के द्वारा (पशु प्रमाता को) मोहित करती है तो यही विमोहीकरण संसारी होना (कहलाता) है।

प्राणापानसमान——प्राणादि का सम्बन्ध यहाँ सांख्य की दार्शनिक धारणा से नहीं है। यहाँ पर इनका प्रयोग योगदशा चित्तनिरोध के सन्दर्भ में हुआ है। प्राण तथा अपान का सम्बन्ध क्रमशः इडा तथा पिङ्गला नाडियों से होता है। 'समान' के विषय में यद्यपि कुछ भी नहीं कहा गया किन्तु जैसा कि प्रत्यभिज्ञाहृदय में हम देखते हैं, इसका सम्बन्ध पशु प्रमाता से है। डा० सूर्यकान्त इसको प्राण तथा अपान का संवलित स्वरूप मानते हैं।[1]

अपनी शिवसूत्रविमर्शिनी में क्षेमराज कहते हैं कि श्वासनिरोध के द्वारा प्राण तथा अपान मध्यनाडी में स्थित उदानरूपी अग्नि में विलीन हो जाती है, "प्राणापानयुक्त्या एकत्र उदानवह्न्यात्मनि मध्यनाड्यां विलीनतापादनम्।"[2] यहाँ पर भी इनका यही अभिप्राय है।

---

१. प्र० हृ० अ० ला० टि० १८५

२. शि० सू० वि०, पृ० ८०

यदा तु मध्यधामोल्लासां उदानशक्तिं विश्वव्याप्तिसारां च व्यानशक्तिं तुर्यदशारूपां तुर्यातीतदशारूपां च चिदानन्दघनां उन्मीलयति तदा देहाद्यवस्थायामपि पतिदशात्मा जीवन्मुक्तिर्भवति । एवं त्रिधा स्वशक्तिव्यामोहितता व्याख्याता ।

और जब (यह ऐश्वरी शक्ति) मध्यधाम में प्रस्फुटित होने वाली उदानशक्ति, विश्वव्यापक व्यानशक्ति, तथा तुर्य एवं तुर्यातीत दशारूप चिदानन्दघन (शक्ति) का प्रस्फुरण करती है तो देहादि अवस्था में भी पतिभूमि में होने वाली जीवन्मुक्ति हो जाती है ।

इस प्रकार निजशक्ति द्वारा विमोहीकरण की व्याख्या तीन रूपों में की गयी ।

तुर्य एवं तुर्यातीत :—काश्मीर त्रिक दर्शन न केवल जाग्रत स्वप्न तथा सुषुप्ति से अपना सम्बन्ध रखता है, अपितु इसका क्षेत्र इससे आगे की अवस्थाओं तक भी फैला हुआ है । वे अवस्थाएं हैं—तुर्य तथा तुर्यातीत । अभिप्राय यह कि इसका प्रयास न केवल उन अनुभूतियों के विवेचन की ओर रहा है जो मस्तिष्क, बुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियों की क्रियाशीलता द्वारा उत्पन्न होती हैं, वरन् उन अनुभूतियों का भी जब ये पूर्ण शान्त रहते हैं तथा जिनमें चेतन सभी प्रकार के उपरागोंसे विमुक्त रहता है । भारतीय दार्शनिकों के लिए ये दोनों अवस्थाएँ केवल कल्पना मात्र नहीं बल्कि प्राप्य सत्य रही हैं । वस्तुतः, उत्कृष्ट दर्शन का उद्देश्य इन्हीं अवस्थाओं की प्राप्ति के सुगम मार्ग का दिग्दर्शन होता है । यह दिग्दर्शन तब और सरल होगा जब उपदेशक को स्वयं इन अवस्थाओं का अनुभव हो । अभिनव तथा क्षेमराज दोनों इस मार्ग से गुजरे थे । अतः उनकी दार्शनिक कृतियों में यह दिग्दर्शन पूर्ण तथा खरा उतरा है ।

चिद्वत् इति सूत्रे चित्प्रकाशो गृहीतसंकोचः संसारी इत्युक्तम् इह, तु स्वशक्तिव्यामोहितत्वेन अस्य संसारित्वं भवति इति भङ्ग्यन्तरेण उक्तम् । एवं संकुचितशक्तिः प्राणादिमानपि यदा स्वशक्तिव्यामोहितो न भवति तदा अयम्, 'शरीरी परमेश्वरः' इत्याम्नायस्थित्या शिवभट्टारक एव इति भङ्ग्या निरूपितं भवति । यदागमः,

"मनुष्यदेहमास्थाय छन्नास्ते परमेश्वराः ।"

इति । उक्तं च प्रत्यभिज्ञाटीकायां—"शरीरमेव घटाद्यपि वा ये षट्त्रिंशत्तत्त्वमयं शिवरूपतया पश्यन्ति तेऽपि सिध्यन्ति" इति ॥१२॥

चिद्वत् (सू० ६) आदि सूत्र में परिच्छन्न चित्प्रकाश को ही संसारी कहा गया है। इसके विपरीत यहाँ दूसरे ढंग से कहा गया है कि निज शक्तियों द्वारा विमोहीकरण ही संसारी होना है।

इस प्रकार जब परिच्छन्न शक्ति (एवं) प्राण तथा अन्य अंगों से युक्त होते हुए भी वह अपनी शक्तियों के द्वारा मोहित नहीं होता तब वह '...... शरीरी परमेश्वर' शिव भट्टारक ही है, जैसा कि उसका परम्परागत निरूपण होता आया है। जैसा कि आगम भी कहता है, "मानवदेह प्राप्त करने पर परमेश्वर का स्वरूप निहित हो जाता है"

प्रत्यभिज्ञा-टीका में भी कहा गया है—वे लोग भी सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं जो छत्तीस तत्त्वों से युक्त शरीर अथवा घटादि में भी शिव का स्वरूप ही समझते हैं ॥१२॥

उक्तसूत्रार्थप्रातिपक्ष्येण तत्त्वदृष्टिं दर्शयितुमाह—

तत्परिज्ञाने चित्तमेव अन्तर्मुखीभावेन चेतनपदाध्यारोहात् चितिः ॥१३॥

पूर्वसूत्रव्याख्याप्रसङ्गेन प्रमेयदृष्टया वितत्य व्याख्यातप्रायमेतत्सूत्रम्। शब्दसंगत्या तु अधुना व्याख्यायते। तस्यात्मीयस्य पंचकृत्यकारित्वस्य "परिज्ञाने" सति अपरिज्ञानलक्षणकारणापगमात् स्वशक्तिव्यामोहिततानिवृत्तौ स्वातन्त्र्य-लाभात् प्राक् व्याख्यातं यत् "चित्तं" तदेव संकोचिनीं बहिर्मुखतां जहत् "अन्तर्मुखी-भावेन चेतनपदाध्यारोहात्",—ग्राहकभूमिकाक्रमण-क्रमेण संकोचकलाया अपि-विगलनेन स्वरूपापत्त्या चितिर्भवति। स्वां चिन्मयीं परां भूमिमाविशतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

तत्त्वार्थ प्रतिपादन के लिए उक्त सूत्र का। (उपर्युक्त व्याख्या से भिन्न) अर्थ करते हुए कहते हैं—

उसके सम्यक् ज्ञान से चित्त ही अन्तर्मुखी होकर जब चेतनभूमि पर आरूढ़ होता है तो "चिति" कहलाता है ॥ १३ ॥

पूर्व सूत्र की व्याख्या करते समय प्रमेय दृष्टि से तो इस सूत्र की विशद व्याख्या हो ही चुकी है शब्द की दृष्टि से यहाँ की जाती है।

उसके अर्थात् कृत्यपञ्चक के कर्ता अर्थात् आत्मा के सम्यक् ज्ञान हो जाने पर, अपरिज्ञान के लक्षणभूत कारणों के लुप्त हो जाने पर, अपनी ही शक्तियों द्वारा विमोहीकरण से निवृत्ति मिल जाने पर अर्थात् स्वात-न्त्र्य की प्राप्ति हो जाने पर पूर्वनिरूपित चित्त ही संकोच-प्रधान बहि-

मुखता को छोड़कर अन्तर्मुखी होकर जब चेतन-भूमि पर आरूढ़ होता है अर्थात् क्रमशः ग्राहक भूमि पर पहुंच जाता है तो अपने वास्तविक रूप के प्राप्त करने के कारण चिति कहलाने लगता है, क्योंकि यहाँ संकोच का भी लोप हो जाता है। अभिप्राय यह कि वह अपनी चिन्मयी पराभूमि में प्रविष्ट हो जाता है ॥ १३ ॥

ननु यदि पारमार्थिकं चिच्छक्तिपदं सकलभेदकवलनस्वभावं तदस्य माया-पदेऽपि तथारूपेण भवितव्यं यथा जलदाच्छादितस्यापि भानोः भावावभासकत्वं इत्याशङ्क्याह—

चितिवह्निरवरोहपदेच्छन्नोऽपि मात्रया मेयेन्धनं प्लुष्यति ॥ १४ ॥

'चितिरेव' विश्वग्रसनशीलत्वात् 'वह्निः'। असौ एव 'अवरोहपदे' माया प्रमातृतायां 'छन्नोऽपि' स्वातन्त्र्यात् आच्छादितस्वभावोऽपि भूरिभूतिछन्नाग्निवत् 'मात्रया' अंशेन नीलपीतादिप्रमेयेन्धनं 'प्लुष्यति' स्वात्मसात्करोति। मात्रापदस्येदमाकूतं—यत्कवलयन्नपि सार्वात्म्येन न ग्रसते अपि तु अंशेन; संस्कारात्मना उत्थापयति। ग्रासकत्वं च सर्वप्रमातॄणां स्वानुभवत एव सिद्धम्। यदुक्तं श्रीमदुत्पलदेवपादैः निज स्तोत्रेषु,

"वर्तन्ते जन्तवोऽशेषा अपि ब्रह्मेन्द्रविष्णवः।
ग्रसमानास्ततो वन्दे देवं विश्वं भवन्मयम् ॥"

इति ॥ १४ ॥

यदि किसी के मत में यह शंका उठे कि यदि सभी भेदों का निगरण ही पारमार्थिक चित् शक्ति का स्वभाव है तब तो उसे माया भूमि में (विश्व के आभास की स्थिति में) भी उसी प्रकार होना चाहिए जिस प्रकार मेघों से आच्छन्न होते हुए भी सूर्य वस्तुओं को आभासित करता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

चिति रूपी अग्नि अवरोहणकाल में (माया से) आच्छन्न होते हुए भी कुछ अंश में प्रमेय रूपी इन्धन को जलाती है ॥ १४॥

चिति चूँकि विश्व को निगल जाती है अतः उसे अग्नि कहा गया है। यही (चिति) अवरोहणकाल में माया प्रमातृत्व से आच्छन्न होते हुए भी अर्थात् स्वेच्छा से अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाकर भी नील-पीतादि प्रमेय रूपी इन्धनों को वैसे ही जला देती है जैसे नाना प्रकार के पदार्थों से ढकी हुई अग्नि कुछ न कुछ जलाती ही है। अर्थात् नीलपीतादि प्रमेयों को आत्मसात् कर लेती है।

"मात्रा" पद का तात्पर्य यह है कि (पदार्थों का) कवलन करने पर भी सर्वात्मना ग्रास नहीं करती; अपितु संस्कार रूप में अंशतः (उनका) उत्थापन भी करती है और सभी प्रमाताओं की (इस) ग्रसनशक्ति का पता तो अपने अनुभव से ही चल जाता है। जैसा कि श्रीमान् उत्पलाचार्य ने अपने स्तोत्रों में कहा है—

"(विश्व के) सभी जीव यहाँ तक की ब्रह्मा, इन्द्र तथा विष्णु भी कवलित होते रहते हैं, अतः परमेश्वर रूप इस देव विश्व को प्रणाम करता हूं" ॥ १४॥

यदा पुनः करणेश्वरीप्रसरसंकोचं संपाद्य सर्गसंहारक्रमपरिशीलन-युक्ति आविशति तदा,

बललाभे विश्वमात्मसात्करोति ॥१५॥

चितिरेव देहप्राणाद्याच्छादननिमज्जनेन स्वरूपं उन्मग्नत्वेन स्फार-यन्ती बलम्। यथोक्तम्—

'तदाक्रम्य बलं मन्त्राः············।'

इति। एवं च 'बललाभे' उन्मग्नस्वरूपाश्रयणे क्षित्यादि सदाशिवान्तं 'विश्वं आत्मसात्करोति' स्वस्वरूपाभेदेन निर्भासयति। तदुक्तं पूर्वगुरुभिः स्वभाषामयेषु क्रमसूत्रेषु—"यथा वह्निरुद्बोधितो दाह्यं दहति तथा विषयपाशान् भक्षयेत्" इति।

न चैवं वक्तव्यम्—विश्वात्मसात्काररूपा समावेशभूः कादाचित्की। कथं उपादेया इयं स्यादिति? यतो देहाद्युन्मज्जननिमज्जनवशेन इदं अस्याः कादा-चित्कत्वं इव आभाति। वस्तुतस्तु चितिस्वातन्त्र्यावभासितदेहाद्युन्मज्जनादेव कादाचित्कत्वम्। एषा तु सदैव प्रकाशमाना। अन्यथा तत् देहाद्यपि न प्रकाशेत। अत एव देहादिप्रमातृताभिमाननिमज्जनाय अभ्यासः। न तु सदा प्रथमानतासार-प्रमातृताप्राप्त्यर्थं इति श्रीप्रत्यभिज्ञाकाराः॥ १५॥

और जब (यही चिति) करण देवता के प्रसार एवं संकोच का संपा-दन करने के उपरान्त सृष्टि तथा संहार के क्रम का विधान करना प्रारम्भ करती है तो,

शक्ति प्राप्त कर लेने पर विश्व को आत्मसात् कर लेती है॥ १५॥

चिति ही (वह) शक्ति है जो कि प्राण आदि (मायादि) के आच्छादन को दूर कर अपना स्वरूप प्रस्फुटित कर देती है। जैसा कि कहा गया है—

"तब उस बल, मन्त्र को प्राप्त करके........."

इस प्रकार शक्ति प्राप्त कर लेने पर अर्थात् उन्मग्न प्रवृत्ति ग्रहण कर लेने पर धरणी से लेकर सदाशिव तक विश्व को आत्मसात् कर लेती है, अर्थात् (उसे) अपने रूप से अभिन्न रूप में प्रदर्शित करती है, जैसा कि प्राचीन आचार्यों ने स्वरचित क्रमसूत्रों में कहा है, "जैसे जलाये जाने पर अग्नि इन्धन को जला देता है, वैसे ही चिति विषयजाल को निगल जाती है"

यह नहीं माना जा सकता कि शिव का आत्मसात्कार करने वाली समावेशभूमिका क्षणिक है। भला यह उपादेय कैसे हो सकती है? क्योंकि देहादि के उन्मग्न एवं निमग्न होने के कारण ही यह 'चिति' क्षणिक प्रतीत होती है। वास्तव में चिति की स्वतन्त्र इच्छा से अवभासित देहादि के प्रकट होने के कारण ही इसको क्षणिक कहा जाता है। यह तो सदैव प्रकाशमान है। नहीं तो देहादि भी नहीं प्रकाशित हो सकते। अतः देहादि में प्रमाता होने का अभिमान दूर करने के लिए ही इसका यह अभ्यास है; न कि चिरन्तनरूप से प्रकाशमान प्रमातृता की प्राप्ति के लिए। यह है श्री प्रत्यभिज्ञाकार का मत ॥१५॥

एवञ्च—

चिदानन्दलाभे देहादिषु चेतमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः ॥१६॥

विश्वात्मसात्कारात्मनि समावेशरूपे 'चिदानन्दे लब्धे' व्युत्थानदशायां दलकल्पतया देहप्राणनीलसुखादिषु आभासमानेष्वपि यत्समावेशसंस्कारबलात् प्रतिपादयिष्यमाणयुक्तिक्रमोपबृंहितात् 'चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यम्' अविचला चिदेकत्वप्रथा सैव, 'जीवन्मुक्तिः'—जीवतः प्राणानपि धारयतो मुक्तिः, प्रत्यभिज्ञाततनिजस्वरूपविद्रविताशेषपाशराशित्वात्।

और इसी प्रकार—

चिदानन्द की प्राप्ति हो जाने पर देहादि के भास्यमान रहते हुए भी चित् एवं आत्मा की दृढ़ प्रतीति ही जीवन्मुक्ति है ॥१६॥

विश्व के आत्मसात् करने वाले, समावेश स्वरूप चिदानन्द की प्राप्ति हो जाने पर व्युत्थान दशा में देह, प्राण, नील तथा सुख आदि के विभागतः भास्यमान रहते हुए भी समावेशजन्य संस्कार की शक्ति द्वारा

यौगिक क्रियाओं (जिनका आगे वर्णन किया जायगा) के क्रमिक अभ्यास के द्वारा चित् एवं आत्मा के तादात्म्य की जो दृढ़ प्रतिपत्ति (ज्ञान) अर्थात् चित् के एकत्व की अभिव्यक्ति है, वही है जीवन्मुक्ति—जीवित रहते प्राणों के धारण करते हुए भी मुक्ति; क्योंकि (जीव) अपने स्वरूप के प्रत्यभिज्ञान से सारे बन्धनजाल तोड़ डालता है।

व्युत्थान—व्युत्थान शब्द का प्रयोग यहाँ तथा सूत्र '६' की व्याख्या में हुआ है **"अन्यथा ततो व्युत्थितस्य स्वकर्तव्यानुधावनाभाव:"** अर्थात् चित्त प्रधान रहने पर माया प्रमाता में कर्तव्यपराङ्मुखता की भावना आ जायगी। व्युत्थान का व्युत्पत्त्यर्थ—**"विपरीते उत्थानम् व्युत्थानम्"** भी इसी ओर संकेत करता है। व्युत्थित पुरुष का अभिप्राय उस पुरुष से है जो योगी के विपरीत आचरण करता है अर्थात् सांसारिक विषयों में लिप्त रहता है। 'व्युत्थान' शब्द योग के सन्दर्भ में, वस्तुतः समाधि का विपर्यय है। इसीलिए योगसूत्र में '**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।**'[1] की विपरीत स्थिति को ही व्युत्थान कहा गया है। उसको '**इतरत्र**' शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है **"वृत्तिसारूप्यमितरत्र।"**[2] इसकी व्याख्या करते समय भोजराज ने स्पष्ट कर दिया है **"इतरत्र योगादन्यस्मिन् काले।"**[3] वृत्तियाँ हैं प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति।[4] इन्हीं का सारूप्य जिस स्थिति में रहता है, वही है—व्युत्थान की स्थिति। इसी को क्षेमराज 'प्रसव' कहते हैं—**"पूर्वापरकोटयोस्तुर्यरसमास्वादयतो, मध्ये मध्यदशायाम् अवरः अश्रेष्ठः प्रसवो व्युत्थानात्मा कुत्सितः सर्गो जायते।"**[5] किन्तु इस प्रकार के कुत्सित पुरुष को समावेश के संस्कार के बल से तथा यौगिक साधना के द्वारा चिदैकात्म्य की प्रतिपत्ति अर्थात् जीवन्मुक्ति मिल जाती है।

यथोक्तं स्पन्दशास्त्रे—

> **"इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलम् जगत्।**
> **स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः॥"**

इति ॥१६॥

जैसा कि स्पन्दशास्त्र में कहा गया है—

---

१. यो० सू० स० पा० सू० २
२. वही सू० ४
३. उसी पर वृत्ति
४. सू० ६
५. शि० सू० वि०, पृ० १०७-८

"जिसका ऐसा ज्ञान होता है, जो निखिल विश्व को खेल जैसा मानता है और जो सदैव योगसाधन में निरत रहता है वह, निःसन्देह, अपने जीवन-काल में ही मुक्त हो जाता है।"

स्पन्दशास्त्र—स्पन्द शास्त्र का तात्पर्य उत्पल की "स्पन्दकारिका" से है। प्रस्तुत कारिका स्पन्द की तीसवीं कारिका है।

अथ कथं चिदानन्दलाभो भवति ? इत्याह—

मध्यविकासात् चिदानन्दलाभः ॥१७॥

सर्वान्तरतमत्वेन वर्तमानत्वात् तद्भित्तिलग्नतां विना च कस्यचिदपि स्वरूपानुपपत्तेः संविदेव भगवती 'मध्यम्'। सा तु मायादशायां तथाभूतापि स्वरूपं गूहयित्वा "प्राक् संवित् प्राणे परिणता" इति नीत्या प्राणशक्तिभूमिं स्वीकृत्य अवरोहक्रमेण बुद्धिदेहादिभुवं अधिशयाना नाडीसहस्रसरणिमनुसृता।

और चिदानन्द की प्राप्ति कैसे होती है ? इसी बात पर (विचार करते हुए) कहते हैं—

मध्य के विकसित होने से चिदानन्द की प्राप्ति होती है ॥१७॥

मध्य और कुछ नहीं भगवती संवित् ही है; क्योंकि वह सभी के रूप में विद्यमान रहती है; तथा उसकी भित्ति में संलग्न हुए बिना अपने (वास्तविक) स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। उसी (संवित्) ने माया की स्थिति में उस रूप में होते हुए भी (अपने) स्वरूप को छिपाकर "पहिले जो संवित् थी वही अब प्राण के रूप में परिणत हो गयी" इस विचार के द्वारा प्राणशक्ति-भूमि को स्वीकार करके अपने अवरोहण काल में देहादि भूमियों में विश्राम करती हुई सहस्रों नाडियों के मार्ग का अनुसरण किया है।

मध्य—'मध्य' जैसा कि वृत्ति स्वयं कहती है संवित् के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। कारण यह कि वही सभी के अन्तर में विद्यमान रहती है तथा उसके प्रकाश के बिना किसी को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार जीव पूर्णता प्राप्त कर लेने के पश्चात् विश्वात्मा के तादात्म्य से युक्त हो जाता है उसी प्रकार शरीर विश्वस्वरूप है जो उसी विश्वात्मा का आभास है। योग इस बात पर विशद प्रकाश डालता है; यहाँ तक कि विश्व विकास की प्रक्रिया में व्यक्ति तथा समष्टि के सम्बन्ध की भी विस्तृत व्याख्या करता है। भारतीय तत्त्वचिन्तक शरीर को ही ब्रह्माण्ड मानता है; उसी में पञ्चकृत्य का

विधान प्रतिक्षण हुआ करता है। इस सबका आधार है नाडियों एवं चक्रों का विस्तृत जाल, जो इसी शरीर रूपी ब्रह्माण्ड में फैला हुआ है।

तत्रापि च पलाशपर्णमध्यशाखान्यायेन आब्रह्मरन्ध्रात् अधोवक्त्रपर्यन्तं प्राणशक्तिब्रह्माश्रयमध्यमनाडीरूपतया प्राधान्येन स्थिता। तत एव सर्ववृत्तीनामुदयात् तत्रैव च विश्रामात्। एवंभूताप्येषा पशूनां निमीलितस्वरूपैव स्थिता।

और वहाँ भी वह संवित् पलाशपर्णमध्यशाखान्याय से ब्रह्मरन्ध्र से लेकर अधोवक्त्र पर्यन्त प्रधानतया प्राणशक्ति के रूप में ब्रह्म के आश्रय मध्यनाडी में स्थित है। उसी के द्वारा सभी वृत्तियों का उदय भी होता है और वहीं वे विश्रान्त भी हो जाती हैं। इस रूप में होते हुए भी यह पशु (प्रमाता) से (अपने) स्वरूप को छिपा लेती है।

पलाशपर्णमध्यशाखान्याय—भारतीय दर्शन की यह अपनी विशेषता है कि यह जगत् के प्रत्येक क्षेत्र से सामान्य बातों के उदाहरण द्वारा अनेक गुत्थियाँ सुलझा देता है। यहाँ भी उसी प्रकार का न्याय (युक्ति) प्रस्तुत किया है। यह सामान्य अनुभव है कि पलाश के पत्ते के भीतर भी अनेक अन्तर्शाखाएँ होती हैं। यहाँ सुषुम्ना को पलाशपत्र से समीकृत किया है तथा अन्य नाडियों को उसकी अन्तर्शाखाओं से। इससे यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है कि संवित् देवी इसी सुषुम्ना में स्थित होकर अपने सारे कार्यकलाप किया करती हैं। यही सुषुम्ना यहाँ मध्यनाडी के नाम से अभिहित की गयी है।

मध्यनाडी—यद्यपि शरीर के अन्दर ७२००० नाडियों की कल्पना की जाती है तथापि उनमें से केवल तीन ही मुख्य हैं और उन्हीं तीनों का व्यावहारिक महत्त्व भी है। ये हैं इडा, पिङ्गला (जो कि सहायक नाडियाँ कहलाती हैं) तथा सुषुम्ना (मध्यनाडी)। ये सहायक नाडियाँ नासिका-रन्ध्र से प्रारम्भ होकर शरीर में समानान्तर चला करती हैं। इनमें से इडा बायीं ओर की नासिका से तथा पिङ्गला दायीं ओर से चलती है। उनका संचरण गुदा तथा जननेन्द्रिय के मध्य में स्थित मूलाधार नामक चक्र में पहुँच कर रुक जाता है। न केवल ये सहायक नाडियाँ अपितु सुषुम्ना भी वहीं तक जाकर रुक जाती है। यहाँ से सुषुम्ना रीढ से होकर आगे चलती है और निश्चित स्थान पर स्थित अन्य अगणित चक्रों से गुजरती हुई अन्तिम चक्र तक पहुँचती है। अन्तिम अथवा सर्वोच्च चक्र "सहस्रार" कहलाता है तथा भृकुटियों के बीच में मस्तक पर स्थित होता है। ये चक्र कुछ लोगों के अनुसार छः हैं तथा कुछ लोगों के अनुसार सात; जिनमें मूलाधार तथा सहस्रार भी हैं। उन सबके अपने पृथक् अभिधान हैं और उनके स्वरूप तथा वर्ण

उनके अनुरूप हैं तथा ये जीव और देवजगत् में एक रहस्यात्मक सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

प्रत्येक चक्र की आकृति एक पद्म जैसी है जिसमें प्रत्येक में कुछ निश्चित पंखुड़ियाँ रहती हैं। उदाहरणार्थ मूलाधार में चार पंखुड़ियाँ होती हैं; दूसरों में किसी में छह, तथा, किसी में बारह। सहस्रार सहस्र पंखुड़ियों से युक्त होता है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण हैं—मूलाधार तथा सहस्रार, क्योंकि इन्हीं से होकर सुषुम्ना गुजरती है। सुषुम्ना का सहस्रार में प्रवेश 'ब्रह्मरन्ध्र' से होकर होता है तथा मूलाधार में 'अधोवक्त्र' से होकर। इन सबका विश्व के मनोवैज्ञानिक विकास में बड़ा महत्त्व है।[1]

हठयोग क्षेमराज के बहुत बाद की उपज है अतः क्षेमराज की पारिभाषिक शब्दावली तथा हठयोग की शब्दावली में बहुत अन्तर है। उदाहरणार्थ "इडा" तथा "पिङ्गला" केवल सहायक नाडियों के नाम से अभिहित की गयी हैं। "सुषुम्ना" के स्थान पर हमें "ब्रह्मनाडी" अथवा "मध्यनाडी" का वर्णन मिलता है। इसे "मध्य-धाम" अथवा केवल "मध्य" भी कहा गया है। सहस्रार को हम अग्रभूमि से समीकृत कर सकते हैं और मूलाधार को मूलभूमि से। इसके अतिरिक्त दोनों के वस्तु-निरूपण में भी अन्तर है। सबसे महत्त्वपूर्ण अन्तर सुषुम्ना (मध्य) के सम्बन्ध में है, जो केवल नाडी मात्र नहीं है जिससे श्वासक्रिया इत्यादि का ही सम्बन्ध हो वरन् इसके विपरीत वह संवित् अथवा चितिशक्ति की सार्वभौमिक निवासभूमि है।[2] यह लक्ष्य के लिए एक मार्ग नहीं अपितु स्वयं लक्ष्य है। यही नहीं, इसके विकास से चिदानन्द की प्राप्ति भी हो जाती है **"मध्यविकासात् चिदानन्द-लाभः।"**[3]

यदातु उक्तयुक्तिक्रमेण सर्वान्तरतमत्वे मध्यभूता संविद्भगवती विकसति यदि वा वक्ष्यमाणक्रमेण मध्यभूता ब्रह्मनाडी विकसति तदा 'तद्विकासात् चिदानन्दस्य' उक्तरूपस्य 'लाभः'—प्राप्तिर्भवति। ततश्च प्रागुक्ता जीवन्मुक्तिः ॥१७॥

और जब उक्त योग-साधना-काल में सभी के अन्तरतम में मध्यरूप में विद्यमान भगवती संवित् विकसित होती हैं अथवा आगे आनेवाली

---

१. विशेष विवरण के लिए देखें, हठयोग गोरक्षशतक, हठयोगप्रदीपिका, घेरण्डसंहिता, षट्चक्रनिरूपण आदि।

२. प्र० हृ० सू० १७ पर वृत्ति

३. प्र० हृ० सू० १६

मध्यरूपा ब्रह्मनाडी विकसित होती है तो उसी के विकास से उक्त चिदानन्द की प्राप्ति होती है और उसी के पश्चात् उपर्युक्त जीवन्मुक्ति।

मध्यविकासे युक्तिमाह--

विकल्पक्षयशक्तिसंकोचविकासवाहच्छेदाद्यन्तकोटिनिभालनादय इह उपायाः ॥१८॥

इह मध्यशक्तिविकासे 'विकल्पक्षयादय उपायाः'। प्रागुपदिष्टपञ्चविधकृत्यकारित्वाद्यनुसरणेन सर्वमध्यभूतायाः संविदो विकासो जायत इति अभिहितप्रायम् ॥

मध्यविकास के लिए युक्ति के विषय में कहते हैं--

विकल्प का नाश, शक्ति का संकोच तथा विकास, वाहच्छेद, आदिकोटि तथा अन्तकोटि के विषय में चिन्तन आदि इसके उपाय हैं ॥१८॥

यहाँ अर्थात् मध्यशक्ति के विकास में विकल्प के नाश आदि उपाय हैं। अभिप्राय यह है कि उपरिनिर्दिष्ट कृत्यपञ्चक के कर्तृत्व आदि के अनुसरण के द्वारा ही विश्व की मध्यस्वरूपा संवित् का विकास होता है।

उपायान्तरमपि तु उच्यते—प्राणायाममुद्राबन्धादिसमस्तयन्त्रणातन्त्रत्रोटनेन सुखोपायमेव, हृदये निहितचित्तः उक्तयुक्त्या स्वस्थितिप्रतिबन्धकं विकल्पं अकिंचिच्चिन्तकत्वेन प्रशमयन् अविकल्पपरामर्शेन देहाद्यकलुषस्वचित्प्रमातृतानिभालनप्रवणः अचिरादेव उन्मिषद्विकासां तुर्यतुर्यातीतसमावेशदशां आसादयति। यथोक्तम्—

"विकल्पहानेनैकाग्र्यात् क्रमेणेश्वरतापदम्।"

इति श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्।

अन्य उपाय भी बताया जा रहा है—प्राणायाम तथा मुद्राबन्ध आदि के द्वारा समस्त यन्त्रणाओं के जाल को तोड़ कर ही सुखों की प्राप्ति हो सकती है। उक्त युक्ति के द्वारा चित्त को एकाग्र करके, सभी चिन्ताओं से मुक्त होकर अपनी स्थिति में बाधक विकल्प को शान्त करके, अविकल्प के परामर्श से देहादि के विकार से रहित अपने चित्प्रमातृत्व के चिन्तन में रत (योगी) शीघ्र ही विकासासन्न तुर्य तथा तुर्यातीत से युक्त समावेशभूमि प्राप्त करता है। जैसा कि श्री प्रत्यभिज्ञा में कहा गया है—

"विकल्प को नष्ट करके तथा एकाग्रता के द्वारा शनैः-शनैः पारमेश्वर्यभूमि की प्राप्ति होती है।"

श्रीस्पन्देऽपि—

"यदा क्षोभः प्रलीयते तदा स्यात् परमं पदम् ।"

इति । श्री ज्ञानगर्भेऽपि—

"विहाय सकलाः क्रिया जननि मानसीः सर्वतो
विमुक्तकरणक्रियानुसृतिपारतन्त्र्योज्ज्वलम् ।
स्थितैस्त्वदनुभावतः सपदि वेद्यते सा परा
दशा नृभिरतन्द्रितासमसुखामृतस्यन्दिनी ॥"

इति । अयं च उपायो मूर्धन्यत्वात् प्रत्यभिज्ञायां प्रतिपादितत्वात् आदावुक्तः । शक्तिसंकोचादयस्तु यद्यपि प्रत्यभिज्ञायां न प्रतिपादिताः तथापि आम्नायिकत्वात् अस्माभिः प्रसङ्गात् प्रदर्श्यन्ते ।

श्री स्पन्द में भी कहा गया है—

"संकोच के विलीन होते ही परम पद की प्राप्ति होती है ।"

श्री ज्ञानगर्भ में भी कहा गया है—

"माँ ! जब मनुष्य सभी मानस क्रियाओं को सर्वांशतः छोड़कर स्वतन्त्र इन्द्रियों की क्रिया के अनुसरणरूपी पारतन्त्र्य को ही श्रेष्ठ समझने लग जाते हैं तो तुम्हारी ही अनुभूति से जिस स्थिति का ज्ञान होता है यही है समसुखामृत का अजस्र स्रोत प्रवाहित करने वाली परा दशा ।"

चूँकि यही (विकल्पक्षय) उपाय सर्वश्रेष्ठ है और प्रत्यभिज्ञा में भी इसका प्रतिपादन किया गया है (अतः इस सूत्र में भी) पहले ही प्रतिपादित किया गया है । शक्ति-संकोच आदि (उपायों) का प्रतिपादन यद्यपि प्रत्यभिज्ञा में नहीं किया गया है फिर भी परम्परागत होने के कारण प्रसंगवश यहाँ प्रदर्शित किया जा रहा है ।

बहुषु हि प्रदर्शितेषु कश्चित् केनचित् प्रवेक्ष्यतीति । शक्तेः संकोचे इन्द्रियद्वारेण प्रसरन्त्या एवाकुञ्चनक्रमेण उन्मुखीकरणम् । यथोक्तं आथर्वणिकोपनिषत्सु कठवल्ल्यां चतुर्थवल्लीप्रथममन्त्रे—

"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू-
स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्,
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमश्नन् ॥"

इति । प्रसृताया अपि वा कूर्माङ्गसंकोचवत् त्राससमये हृत्प्रवेशवच्च सर्वतो निवर्तनम् । यथोक्तं--"तदपोद्धृते नित्योदितस्थितिः" इति ।

बहुत से (साधनों) के प्रदर्शन किये जाने पर कोई किसी भी (साधन) द्वारा (चिदानन्द) में प्रवेश पा सकता है। शक्ति-संकोच कहते हैं इन्द्रियों के द्वार से आकुञ्चनक्रम से प्रसरण करने वाली (शक्ति) के उन्मुखीकरण को। जैसा कि अथर्ववेद के उपनिषद् की कठवल्ली की चतुर्थवल्ली के प्रथम मन्त्र में कहा गया है--

"स्वयंभू ने (इन्द्रियों के) द्वारों का विस्तार बाह्यतः ही किया है, इसीलिए मनुष्य (अपने बाह्यरूप को ही) देख पाता है, अन्तरात्मा को नहीं। किसी विरले विवेक-दृष्टि वाले तथा अमृतत्व का उपभोग करने वाले धीर पुरुष ने ही प्रत्यगात्मा को देखा था।"

अथवा (यों कहिए कि) प्रसरित होकर भी भयवशात् कच्छप के अंगसंकोच अथवा हृदयप्रवेश की भाँति पूर्णरूपेण निवर्तन ही (शक्ति का संकोच कहलाता है) जैसा कि कहा गया है--"उसके बहिष्करण को ही नित्योदित स्थिति कहते हैं।"

'शक्तेर्विकासः' अन्तर्निगूढाया अक्रममेव सकलकरणचक्रविस्फारणेन,

"अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः।"

इति। भैरवीयमुद्रानुप्रवेशयुक्त्या बहिः प्रसरणम्। यथोक्तं कक्ष्यास्तोत्रे--

"सर्वाः शक्तीः चेतसा दर्शनाद्याः,
स्वे स्वे वेद्ये यौगपद्येन विष्वक्।
क्षिप्त्वा मध्ये हाटकस्तम्भभूत-
स्तिष्ठन् विश्वाधार एकोऽवभासि॥"

इति।

शक्ति के विकास (का अभिप्राय) है अन्तर्निगूढ (शक्ति का) सकल इन्द्रियचक्रों के विस्फारण द्वारा (उसका भी) विस्फुरण।

"अन्तर्प्रत्यक्ष सम्भव होते हुए भी इस (शक्ति-विकास) की दृष्टि बहिरंगी है तथा निमेष और उन्मेष से रहित है।"

बाह्य-प्रसरण भैरवीय मुद्रा में अनुप्रवेश के द्वारा (सम्भव है) जैसा कि कक्ष्यास्तोत्र में कहा गया है--

"अपने-अपने रूप में वेद्यमान अपनी दर्शनादि समग्र शक्तियों को मध्य में चारों ओर एक ही साथ प्रसारित कर स्वर्णस्तम्भ के रूप में स्थित (तुम) विश्व के आधार तथा एक प्रतीत होते हो।"

श्रीभट्टकल्लटेनापि उक्तम्—"रूपादिषु परिणामात् तत्सिद्धिः" इति । शक्तेश्च संकोचविकासौ नासापुटस्पन्दनक्रमोन्मिषत्सूक्ष्मप्राणशक्त्या भ्रूभेदनेन क्रमासादितोर्ध्वकुण्डलिनीपदे प्रसरविश्रान्तिदशापरिशीलनम् अधःकुण्डलिन्यां च षष्ठवक्त्ररूपायां प्रगुणीकृत्य शक्तिं तन्मूलतदग्रतन्मध्यभूमिस्पर्शावेशः । यथोक्तं विज्ञानभट्टारके—

"वह्नेर्विषस्य मध्ये तु चित्तं सुखमयं क्षिपेत् ।
केवलं वायुपूर्णं वा स्मरानन्देन युज्यते ॥"

इति ।

श्री भट्टकल्लट ने भी कहा है—"रूप आदि में परिवर्तन होने से उसकी सिद्धि होती है"। शक्ति का संकोच तथा विकास कहते हैं नासापुट के स्पन्दन द्वारा क्रमशः उन्मिषित सूक्ष्म प्राणशक्ति-जन्य भ्रूभेदन द्वारा क्रमशः प्राप्त ऊर्ध्व कुण्डलिनी पद में प्रसरण तथा विश्रान्ति की स्थिति के परिशीलन को, तथा सर्प की कुण्डलिनी की भाँति अधःकुण्डलिनी में शक्ति को विशेषरूपेण नियोजित करके उसकी मूल, अग्र तथा मध्य-भूमि के स्पर्श के आवेश को। जैसा कि विज्ञानभट्टारक में कहा गया है—"वह्नि तथा विष के बीच में (मनुष्य को) सुखमय चित्त को एकाग्र करना चाहिए, चाहे वह (चित्) वायुपूर्ण हो अथवा वायुरहित हो, उसे स्मरानन्द की अनुभूति होगी।"

कुण्डलिनी—कुण्डलिनी श्वास-क्रिया की वह अवस्था है जिसके द्वारा सुषुम्ना तक पहुँचने का श्वास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। यह सर्प की भाँति कुण्डली बना कर मूलाधार में स्थित हो जाती है। सामान्य मनुष्य में यह सोती रहती है। फलतः, जब श्वास सुषुम्ना तक पहुँचने को होती है तो कुण्डलिनी अवश्य जग पड़ती है। श्वास की आहट पाते ही सर्प चौकन्ना हो जाता है और सुषुम्ना की ओर झुक पड़ता है; जिससे कि श्वास के लिए मार्ग साफ हो जाता है। अब यह सुषुम्ना के साथ ब्रह्मरन्ध्र से होकर सहस्रार तक पहुँचती है, जिससे समाधि की स्थिति प्राप्त हो जाती है। इसी का विभाजन ऊर्ध्व कुण्डलिनी तथा अधः कुण्डलिनी के रूप में किया गया है।

अत्र वह्निः अनुप्रवेशक्रमेण संकोचभूः । विषस्थानं प्रसरयुक्त्या विकासपदं 'विषॢ व्याप्तौ' इति अर्थानुगमात् । 'वाहयोः' वामदक्षिणगतयोः प्राणापानयोः

'छेदो' हृदयविश्रान्तिपुरःसरं अन्तः ककारहकारादिप्रायानच्कवर्णोच्चारेण विच्छेदनम् । यथोक्तं ज्ञानगर्भे--

"अनच्ककक्कृतायतिप्रसृतपार्श्वनाडीद्वय—
च्छिदो विधृतचेतसो हृदयपङ्कजस्योदरे ।
उदेति तव दारितान्धतमसः स विद्याङ्कुरो
य एष परमेशतां जनयितुं पशोरप्यलम् ॥"

इति ।

यहाँ (उक्त उद्धरण में) वह्नि अनुप्रवेशकालीन संकोचभूमि (की द्योतक) है । "विष्" धातु का प्रयोग व्याप्ति अर्थ में होता है (विषॢ व्याप्तौ) । इस अर्थ के अनुसरण द्वारा विषस्थान प्रसरण के अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण विकासपद (का द्योतक) है । दोनों वाहों के अर्थात् (क्रमशः) बायीं तथा दायीं ओर स्थित प्राण तथा अपान का उच्छेदन कभी अर्थात् हृदयविश्रान्ति-पुरस्सर अन्तस् में ककार तथा हकार आदि से युक्त अनच्क वर्णों के उच्चारण द्वारा विच्छेद (है वाहच्छेद) । जैसा कि ज्ञानगर्भ में कहा गया है--

"(माँ,) दोनों ओर फैली दोनों नाडियों को अनच्क (वर्णों) के प्रभाव द्वारा उच्छिन्न करके, चित्त को विशेष रूप से नियन्त्रित करके तथा तुम्हारी अन्धतमिस्रा को दूर करके (तुम्हारे) हृदय रूपी पंकज के विवर में वह विद्यांकुर उगता है, जो पशु (प्रमाता) में भी परमेशता उत्पन्न कर सकता है ।"

"आदिकोटिः" हृदयम् । "अन्तकोटिः" द्वादशान्तः । तयोः प्राणोल्लासविश्रान्त्यवसरे 'निभालनं' चित्तनिवेशनेन परिशीलनम् । यथोक्तं विज्ञानभैरवे–

"हृद्याकाशे निलीनाक्षः पद्मसंपुटमध्यगः ।
अनन्यचेताः सुभगे ! परं सौभाग्यमाप्नुयात् ॥"

इति । तथा—

"यथा तथा यत्र तत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत् ।
प्रतिक्षणं क्षीणवृत्तेः वैलक्षण्यं दिनैर्भवेत् ॥"

इति ।

आदिकोटि हृदय है । अन्तकोटि द्वादशान्त है । उन दोनों (कोटियों) का प्राणोल्लास की विश्रान्ति के अवसर पर निभालन अर्थात् स्थिरचित्त होकर परिशीलन । जैसा कि 'विज्ञानभैरव' में कहा गया है—

"सुन्दरि ! जो (भक्त) हृदय-रूपी आकाश में अपने नेत्रों को स्थिर करके, अनन्यचित्त होकर पद्मसंपुट के मध्य में प्रवेश करता है, वह परम सौभाग्य प्राप्त करता है ।"

इसी प्रकार,

"चाहे जिस प्रकार और चाहे जहाँ कहीं भी मन को द्वादशान्त तक पहुँचा दे, उसकी (मन की) क्रियाएँ क्षणप्रतिक्षण क्षीण होती रहती हैं और (कुछ ही) दिनों के अनन्तर एक विलक्षण स्थिति प्राप्त हो जाती है ।"

निभालन—योग शास्त्र में समाधि के कुछ साक्षादुपकारक गिनाये गये हैं। ये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, तथा ध्यान—"यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि ।"[1]

यहाँ निभालन, जैसा कि वृत्ति से स्पष्ट है, ध्यान का ही पर्याय है, "निभालनं चित्तनिवेशनेन परिशीलनम् ।"

आदिपदात् उन्मेषदशानिषेवणम् ।

यथोक्तम्—

"उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत् ।"

इति स्पन्दे । तथा रमणीयविषयचर्वणादयश्च संगृहीताः । यथोक्तं श्रीविज्ञानभैरव एव—

"जग्धिपानकृतोल्लासरसानन्दविजृम्भणात् ।
भावयेत् भरितावस्थां महानन्दमयो भवेत् ॥
गीतादिविषयास्वादासमसौख्यैकतात्मनः ।
योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तदात्मता ॥
यत्र यत्र मनस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत् ।
तत्र तत्र परानन्दस्वरूपं संप्रकाशते ॥"

इति । एवमन्यदपि आनन्दपूर्णस्वात्मभावनादिकं अनुमन्तव्यम् । इत्येवमादयः अत्र मध्यविकासे उपायाः ॥१८॥

(सूत्र के) आदि पद से उन्मेष दशा का अनुसरण (समझना चाहिए)। जैसा कि स्पन्द में कहा गया है—

---

१. यो० सू० सा० पा० सू० २६

"उन्मेष उसे समझना चाहिए (जिसके ज्ञान होने पर) मनुष्य स्वतः उसका अनुसरण करता है।" इसी प्रकार (आदि के द्वारा) रमणीय विषय की चर्वणा आदि का उपादान भी किया गया है। जैसा कि श्री 'विज्ञान-भैरव' में कहा गया है—

"भोजन तथा पान के उल्लास-जन्य रस एवं आनन्द के प्रस्फुरण से (योगी को) तुष्टावस्था एवं परमानन्द की अनुभूति होनी चाहिए।

गीत आदि विषयों के आस्वाद से उत्पन्न अनुपम आनन्द से युक्त होकर योगी लोग उसी में विभोर हो जाते हैं क्योंकि उनका मन तो उस (गीत आदि) के तादात्म्य से युक्त रहता ही है।

जहाँ जहाँ मन को सन्तोष मिले वहीं मन को लगाना चाहिए (क्योंकि) वहीं-वहीं परमानन्द के स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है।"

इसी प्रकार आनन्दपूर्ण स्वात्मभावनादि दूसरे उपाय मानने चाहिए। इस मध्यविकास के उक्त तथा अन्य इसी प्रकार के उपाय हैं। ॥१८॥

मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः। स एव च परमयोगिनः समावेशसमापत्त्यादि-पर्यायः समाधिः। तस्य नित्योदितत्वे युक्तिमाह—

समाधिसंस्कारवति व्युत्थाने भूयो भूयः चिदैक्यामर्शात् नित्योदितसमाधिलाभः ॥१९॥

आसादितसमावेशो योगिवरो व्युत्थाने अपि समाधिरससंस्कारेण क्षीब इव सानन्दं घूर्णमानो भावराशिं शरदभ्रलवं इव चिद्गगन एव लीयमानं पश्यन् भूयो भूयः अन्तर्मुखतां एव समवलम्बमानो निमीलनसमाधिक्रमेण चिदैक्यमेव विमृशन् व्युत्थानाभिमतावसरे अपि समाध्येकरस एव भवति।

मध्य-विकास से चिदानन्द की प्राप्ति होती है और वही परम योगियों की समाधि है; जिसको समापत्ति आदि भी कह सकते हैं। उसी (समाधि) के नित्योदित होने का उपाय बतलाते हैं—

समाधि के संस्कार से युक्त (योगी) को व्युत्थान में चित् के साथ अपने तादात्म्य के पुनः पुनः परामर्श से नित्योदित समाधि की प्राप्ति होती है ॥१९॥

समावेश प्राप्त कर लेने पर एक सिद्ध योगी व्युत्थान दशा में भी आनन्द के संस्कार से एक मदोन्मत्त व्यक्ति की भाँति लड़खड़ाता हुआ

चित् रूपी आकाश पर शरद् ऋतु में मेघखंड की भाँति भावराशि को देखता हुआ, बार-बार विवेक का सहारा लेता हुआ, निभालन समाधि के द्वारा चित् के साथ (अपने) तादात्म्य का परामर्श करता हुआ व्युत्थान की स्थिति में भी समाधि ही के आनन्द का अनुभव करता है।

यथोक्तं क्रमसूत्रेषु—"क्रममुद्रया अन्तःस्वरूपया बहिर्मुखः समाविष्टो भवति साधकः। तत्रादौ बाह्यात् अन्तः प्रवेशः आभ्यन्तरात् बाह्यस्वरूपे प्रवेशः आवेशवशात् जायते इति सबाह्याभ्यन्तरोऽयं मुद्राक्रम" इति।

जैसा कि क्रमसूत्रों में कहा गया है "अन्तः स्वरूप क्रम मुद्रा के द्वारा बहिर्मुख होते हुए भी साधक समावेश प्राप्त कर लेता है। उस स्थिति में आवेश के कारण पहले बाह्य से आन्तर स्थिति में उसके पश्चात् आन्तर स्थिति से बाह्यस्वरूप में प्रवेश होता है, इस प्रकार यह मुद्राक्रम बाह्य तथा आभ्यन्तर (दोनों स्वरूपों से) युक्त है।

क्रम मुद्रा—इस मुद्रा के विषय में "हठयोगप्रदीपिका" तथा "घेरण्डसंहिता" दोनों मौन हैं। ऐसा लगता है यह त्रिकशास्त्र की अपनी विशेष मुद्रा थी। इसका स्वरूप वृत्ति में स्पष्ट कर दिया गया है।

अत्रायमर्थः—सृष्टिस्थितिसंहृतिसंविच्चक्रात्मकक्रमं मुद्रयति स्वाधिष्ठितं आत्मसात्करोति येयं तुरीया चितिशक्तिः, तथा 'क्रममुद्रया' 'अन्तरिति' पूर्णाहन्तास्वरूपया, 'बहिर्मुख' इति विषयेषु व्यापृतोऽपि 'समाविष्टः' साक्षात्कृतपरशक्तिस्फारः 'साधकः' परमयोगी भवति।

अभिप्राय यह कि (साधक) सृष्टि, स्थिति, संहृति तथा संवित् के चक्रस्वरूप क्रम की मुद्राएँ प्रदर्शित करता है अर्थात् अपने में स्थित बातों का पूर्ण निगरण कर लेता है। इसी को तुरीया चितिशक्ति कहते हैं। उसी क्रममुद्रा के आन्तर अर्थात् पूर्ण अहन्तास्वरूप के द्वारा बहिर्मुख अर्थात् विषयों में अनुरक्त रहते हुए भी समावेश प्राप्त करके अथवा पराशक्ति के प्रस्फुरण का साक्षात्कार करके साधक परम योगी हो जाता है।

तत्र च बाह्यात् ग्रस्यमानात् विषयग्रामात् 'अन्तः' परस्यां चितिभूमौ ग्रसनक्रमेणैव 'प्रवेशः' समावेशो भवति। 'आभ्यन्तरात्' चितिशक्तिस्वरूपात् च साक्षात्कृतात् 'आवेशवशात्' समावेशसामर्थ्यादेव 'बाह्यस्वरूपे' इदन्तानिर्भासे विषयग्रामे, वमनयुक्त्या 'प्रवेशः' चिद्रसाश्यानताप्रथनात्मा समावेशो जायते इति

'सबाह्याभ्यन्तरः अयं' नित्योदितसमावेशात्मा 'मुदो'-हर्षस्य वितरणात् परमानन्दस्वरूपत्वात् पाशद्रावणात् विश्वस्य अन्तः तुरीयसत्तायां मुद्रणात् मुद्रात्मा क्रमोऽपि सृष्टयादिक्रमाभासकत्वात् तत्क्रमाभासरूपत्वात् च 'क्रम' इति अभिधीयत इति ॥१६॥

और उसी युक्ति में (तत्र) बाह्यस्वरूप से अर्थात् विषयग्राम के निगरण से आभ्यन्तर अर्थात् परम चिति भूमि में क्रमशः निगरण के द्वारा प्रवेश अर्थात् समावेश होता है। आभ्यन्तर स्वरूप से अर्थात् साक्षात्कृत चितिशक्ति के स्वरूप से आवेश के कारण अर्थात् समावेश की शक्ति से बाह्यस्वरूप अर्थात् विषयों के इदन्ता रूप में आभासित होने पर वमनरूप में प्रवेश अर्थात् चित् के रस के संस्कार का प्रथन-स्वरूप समावेश होता है।

इस प्रकार बाह्याभ्यन्तररूप इस नित्योदित समावेशस्वरूप 'मुद' अर्थात् हर्ष के वितरण के कारण परमानन्दस्वरूप होने के कारण, बन्ध के जाल को काटने के कारण तथा विश्व को अंतःतुरीय सत्ता तक पहुँचाने के कारण मुद्रा के रूप में भी 'क्रम' सृष्टि आदि के आभासक और उसके क्रम के आभासस्वरूप होने के नाते 'क्रम' कहलाता है ॥१६॥

इदानीमस्य समाधिलाभस्य फलमाह—

तदा प्रकाशानन्दसारमहामन्त्रवीर्यात्मकपूर्णाहन्तावेशात् सदा सर्वसर्गसंहारकारिनिजसंविद्देवताचक्रेश्वरताप्राप्तिर्भवतीति शिवम् ॥२०॥

नित्योदिते समाधौ लब्धे सति 'प्रकाशानन्दसारा'—चिदाह्लादैकघना 'महती मन्त्रवीर्यात्मिका' सर्वमन्त्रजीवितभूता 'पूर्णा' पराभट्टारिकारूपा या इयं 'अहन्ता'—अकृत्रिमः स्वात्मचमत्कारः, तत्र 'आवेशात्' सदा कालाग्न्यादेः चरमकलापर्यन्तस्य विश्वस्य यौ 'सर्गसंहारौ'—विचित्रौ सृष्टिप्रलयौ 'तत्कारि' यत् 'निजं संविद्देवताचक्रं' 'तदैश्वर्यस्य' 'प्राप्तिः'—आसादनं भवति। प्राकरणिकस्य परमयोगिन इत्यर्थः। 'इति' एतत् सर्वं शिवस्वरूपमेवेत्युपसंहार—इति संगतिः।

अब इस समाधि के प्राप्त करने का फल बतलाते हैं—

तब चिदानन्दैकघन महामन्त्रवीर्यस्वरूप पूर्ण अहन्ता में प्रवेश करने से, सदैव समस्त सृष्टि तथा संहार के कारणस्वरूप निजसंवित् देवता के चक्र पर प्रभुता प्राप्त होती है। इति शिवम् ॥२०॥

नित्योदित समाधि प्राप्त हो जाने पर प्रकाशानन्दसार अर्थात् चिदानन्दैकघन महान् मन्त्रवीर्यस्वरूप अर्थात् सभी मन्त्रों की जीवन-स्वरूप

पूर्ण महाभट्टारिका रूप अहन्ता अर्थात् अकृत्रिम आत्मचमत्कार में प्रवेश करने से सदैव कालाग्नि से लेकर चरमकलापर्यन्त विश्व का जो सर्ग एवं संहार अर्थात् विभिन्न प्रकार की सृष्टि और प्रलय है, उसके कर्ता संवित् देवता-चक्र पर प्रभुत्व की प्राप्ति अर्थात् आसादन होता है अर्थात् परम योगी को ही (यह प्राप्त होती है)। सारांश यह कि यह निखिल (दृश्यमान जगत्) शिव-स्वरूप ही है। यही इसकी संगति है।

कालाग्नि तथा चरमकला—"कालाग्न्यादेः चरमकलापर्यन्तस्य" के द्वारा विश्व के विकास की ओर ही संकेत किया है किन्तु यह 'कालाग्न्यादि शिवान्त'[1] अभिनव के इस प्रयोग से भिन्न है। वहाँ कालाग्नि का अर्थ पृथिवी तत्त्व है। यहाँ इसका प्रयोग रुद्र के संहारकारी स्वरूप के लिए किया गया है। "कालः अग्निः यस्यः सः रुद्रः शिवः।" कला एक कञ्चुक है।

तत्र यावत् इदं किंचित् संवेद्यते तस्य संवेदनमेव स्वरूपम्। तस्यापि अन्तर्मुखविमर्शमयाः प्रमातारः तत्त्वम्। तेषामपि विगलितदेहाद्युपाधिसंकोचाभिमाना अशेषशरीरा सदाशिवेश्वरतैव सारम्। अस्या अपि प्रकाशैकसद्भावापादिताशेषविश्वचमत्कारमयः श्रीमान् महेश्वर एव परमार्थः।

उसमें जो कुछ (इस विश्व का) संवेदन होता है वही उसका (वास्तविक) स्वरूप है। और उसी संवेदन के अन्तर्मुखविमर्शमय प्रमाता ही (इस विश्व के) तत्त्व हैं। उन प्रमाताओं का सार है—विश्वशरीर सदा शिवेश्वर की स्थिति जिसका देहादि को उपहित कराने वाले संकोचाभिमान विगलित हो चुका है।

और इस (सदाशिवेश्वरता) का परमार्थ निखिल विश्व के चमत्कार से युक्त स्वयं श्रीमान् महेश्वर हैं जिसका आभास (उसी महेश्वर के) प्रकाश की सत्ता द्वारा ही होता है।

न हि पारमार्थिकप्रकाशावेशं विना कस्यापि प्रकाशमानता घटते। स च परमेश्वरः स्वातन्त्र्यसारत्वात् आदिक्षान्तामायीयशब्दराशिपरामर्शमयत्वेनैव एतत्स्वीकृतसमस्तवाच्यवाचकमयाशेषजगदानन्दसद्भावापादनात् परं परिपूर्णत्वात् सर्वाकाङ्क्षाशून्यतया आनन्दप्रसरनिर्भरः।

(क्योंकि) पारमार्थिक प्रकाश में प्रवेश किये बिना (वस्तु का) आभासन सम्भव नहीं है। और वह परमेश्वर स्वातन्त्र्य-प्रधान होने के कारण

१. र० प०, पृ० ३२

'अ' से लेकर 'क्ष' तक मायीय शब्दराशि के परामर्श द्वारा इस समग्र जगत् को समस्त वाच्य तथा वाचक (शब्द एवं अर्थ) द्वारा विनिर्मित मान कर इसका सद्भाव आनन्द द्वारा ही बताने के कारण (तथा) परम परिपूर्ण होने के नाते सभी आकांक्षाओं से रहित है अतः आनन्द का (अविच्छिन्न) प्रसार देखना चाहता है।

अत एव अनुत्तराकुलस्वरूपात् अकारात् आरभ्य शक्तिस्फाररूप-हकलापर्यन्तं यत् विश्वं प्रसृतं, क्षकारस्य प्रसरशमनरूपत्वात् तत् अकारहकारा-भ्यामेव संपुटीकारयुक्त्या प्रत्याहारन्यायेन अन्तः स्वीकृतं सत् अविभागवेदना-त्मकबिंदुरूपतया स्फुरितं अनुत्तर एव विश्राम्यति। इति शब्दराशिस्वरूप एव अयं अकृतको विमर्शः।

अतएव अनुत्तर में 'अकुल' के रूप में स्थित अकार से लेकर शक्ति का स्फुरण करने वाले हकार-पर्यन्त जो यह विश्व फैला हुआ है वही क्षकार के प्रसार के पर्यवसानस्वरूप होने के कारण अकार तथा हकार के द्वारा ही संपुटीकरण युक्ति द्वारा प्रत्याहार की विधि से (योगीद्वारा) अपने मानस में स्वीकृत होने पर भी अभेदप्रत्यायक बिन्दु रूप में स्फुरित होकर अनुत्तर में ही विश्रान्त हो जाता है। इस प्रकार, यह स्वाभाविक विमर्श शब्दराशिस्वरूप ही है।

अनुत्तर—"अनुत्तर" की धारणा त्रिक की अपनी देन है। काश्मीर-शैव दर्शन में परमशिव तथा महेश्वर का विचार विशुद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण से किया गया है। किन्तु अनुत्तर की धारणा में कौलनय के रहस्यवादी संकेतों को भी प्रश्रय मिला है। रुद्रयात्मक तंत्र में **"अनुत्तरं कथं देवं सद्यः कौलिकसिद्धिदम्"** के द्वारा इसी ओर संकेत किया गया है। अनुत्तर को ही कुल तथा उसकी शक्ति को **"कुलप्रसरशायिनी कौलकी शक्तिः"** कहा जाता है। इस प्रकार जहाँ हम दार्शनिक चिन्तन की दृष्टि से शक्ति तथा शिव को अव्यतिरिक्त समझते हैं उसी प्रकार रहस्यमूलक भावधारा पर अनुत्तर तथा विसर्ग को भी अभिन्न समझते हैं। "अनुत्तर" शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है **"न उत्तरं विद्यते यस्मात्"** अर्थात् यह वह पारमार्थिक भूमि है जिससे परे कुछ भी नहीं। यह अव्यपदेश्य तथा वर्णनातीत अवस्था है। रहस्यवादी धारणा के अतिरिक्त अभिनव ने 'अ' के मनोवैज्ञानिक आधार की ओर भी संकेत किये हैं। 'अ' वर्ण अनाहत ध्वनि है, इसका प्रतिघात सम्भव नहीं। क्षेमराज को भी अनुत्तर की यही व्याख्या मान्य है।

त्रिक की अनुत्तर-सम्बन्धी धारणा वेदांत के शुद्ध ब्रह्म की धारणा से यथेष्ट साम्य रखती है। **"न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति न मनो न विद्मो न**

विजानीमो......"'ये पंक्तियाँ हठात् हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित कर लेती हैं"

यथोक्तम्--

"प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः ।
उक्ता च सैव विश्रान्तिः सर्वापेक्षानिरोधतः ।
स्वातन्त्र्यमथ कर्तृत्वं मुख्यमीश्वरतापि च ।"

इति । एषैव च अहन्ता सर्वमन्त्राणां उदयविश्रान्तिस्थानत्वात् एतद्बलेनैव च तत्तदर्थक्रियाकारित्वात् महती वीर्यभूमिः ।

तदुक्तम्--

"तदाक्रम्य बलं मन्त्रा............ ।"

इत्यादि,

"......त एते शिवधर्मिणः ।"

इत्यन्तं श्रीस्पन्दे ।

जैसा कि कहा गया है--

"प्रकाश का आत्मा में विश्रान्त होना ही अहभाव कहलाता है, और उसको विश्रान्ति इसलिए कहते हैं क्योंकि (इसके द्वारा) (अन्य) सभी (सांसारिक) आवश्यकताएँ निरुद्ध हो जाती हैं । (इसी को) स्वातन्त्र्य, मुख्यकर्तृत्व तथा ऐश्वर्य भी कहते हैं ।"

और यही अहन्ता सभी मन्त्रों की विश्रान्तिभूमि है तथा इसी शक्ति द्वारा विभिन्न अर्थक्रियाएँ सम्पन्न होती हैं, अतः यह महान् शक्तिभूमि है । यही बात श्रीस्पन्द शास्त्र में "मन्त्रों के उस बल को पार करने के पश्चात्........." से प्रारम्भ करके "वे शिव में आस्था रखने वाले ।" से अन्त करके, कही गयी है ।

शिवसूत्रेषु अपि "महाह्लादानुसंधानात् मन्त्रवीर्यानुभवः" इति । तदत्र महामन्त्रवीर्यात्मिकायां पूर्णाहन्तायां आवेशो देहप्राणादिनिमज्जनात् तत्पदावाप्त्यवष्टम्भेन देहादीनां नीलादीनामपि तद्रसाप्लावनेन तन्मयीकरणम् ।

शिवसूत्रों में भी (कहा गया है) "महाह्लाद के अनुसंधान से मन्त्रवीर्य की अनुभूति होती है ।" अतः इस महामन्त्रवीर्यात्मक पूर्ण अहन्ता में

---

१. तवल्कारोपनिषद् १.३

प्रवेश और कुछ नहीं, प्रत्युत है—देहप्राणादि को (उसी में) निमग्न करके उस पद की प्राप्ति के दृढ निश्चय द्वारा देह, प्राण आदि तथा नीलादि पदार्थों को उसी (अहन्ता रूपी) रस में रञ्जित करके उसी (पूर्णाहन्ता) में उन सब का विलीनीकरण ।

तथा हि—देहसुखनीलादि यत्किंचित् प्रथते अध्यवसीयते स्मर्यते संकल्प्यते वा तत्र सर्वत्रैव भगवती चितिशक्तिमयी प्रथा भित्तिभूतैव स्फुरति । "तद-स्फुरणे कस्यापि अस्फुरणात्" इति उक्तत्वात् ।

उदाहरणार्थ, देह सुख नीलादि की जो कुछ संवित्ति होती है, निश्चय होता है, स्मरण होता है अथवा इच्छा होती है वहाँ सर्वत्र भगवती चिति की शक्ति से युक्त प्रथा भित्ति के रूप में स्फुरित होती है । कहा भी गया है, "उसके स्फुरण के बिना और किसी का स्फुरण नहीं होता ।"

केवलं तथा स्फुरन्त्यपि सा तन्मायाशक्त्या अवभासितदेहनीलाद्युपरागदत्ता-भिमानवशात् भिन्नभिन्नस्वभावा इव भान्ती ज्ञानसंकल्पाध्यवसायादिरूपतया मायाप्रमातृभिः अभिमन्यते । वस्तुतस्तु एकैव असौ चितिशक्तिः । यथोक्तम्—

"या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता ।
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः ॥"

इति ।

केवल उसी (भित्ति) रूप में ही (वस्तुतः) स्फुरित होकर भी वह (चिति) अपनी मायाशक्ति द्वारा देहनीलादि को अवभासित करके ज्ञान, संकल्प, अध्यवसाय आदि से उत्पन्न माया प्रमाताओं द्वारा उपरागजन्य अभिमान के कारण विभिन्न रूपों में प्रकाशित होती हुई समझी जाती है । वस्तुतः यह चितिशक्ति एक ही है । जैसा कि कहा गया है—

"यह जो विभिन्न पदार्थों के क्रम से प्रसृत प्रतिभा है (वह) निर्विकार तथा अनन्त चित् रूप प्रमाता के अतिरिक्त और कुछ नहीं, और वही महेश्वर है ।"

तथा,

"मायाशक्त्या विभोः सैव भिन्नसंवेद्यगोचरा ।
कथिता ज्ञानसंकल्पाध्यवसायादिनामभिः ॥"

इति । एवमेषा सर्वदशासु एकैव चितिशक्तिः विजृम्भमाणा यदि तदनु-प्रवेशतदवष्टम्भयुक्त्या समासाद्यते तत् तदावेशात् पूर्वोक्तयुक्त्या करणोन्मीलन-

निमीलनक्रमेण सर्वस्य सर्वमयत्वात् तत्तत्संहारादौ अपि सदा 'सर्वसर्गसंहारकारि' यत् 'सहजसंवित्तिदेवताचक्र'—अमायीयान्तर्बहिष्करणमरीचिपुञ्जः, तत्र 'ईश्वरता'-साम्राज्यं परभैरवात्मता तत्प्राप्तिः भवति परमयोगिनः ।

उसी प्रकार

"विभु (परमेश्वर) की मायाशक्ति के द्वारा विभिन्न रूप में प्रतीत होने वाली वही (चिति ही) ज्ञान, संकल्प तथा अध्यवसाय आदि नामों द्वारा अभिहित की गयी है ।"

इस प्रकार यदि सभी दशाओं में एक रूप में प्रतिभासमान चिति-शक्ति की, उसमें प्रवेश तथा दृढ़संकल्प के द्वारा प्राप्ति कर ली जाती है, तो उसमें प्रवेश करने, अर्थात् पूर्वोक्त युक्ति से इन्द्रियों के उन्मीलन और निमीलन द्वारा अपने को विश्वमय कर लेने से उस (विश्व) के संहारादि में भी सदैव समग्र सृष्टि तथा संहार का कारणभूत, जो सहज संवित्ति देवताचक्र, अर्थात् मायेतर अन्तर्बहिष्करण मरीचिपुञ्ज है, उसमें परम-योगी ऐश्वर्य अर्थात् परभैरवता की प्राप्ति कर लेता है ।

यथोक्तम्—

"यदा त्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लयोद्भवौ ।
नियच्छन् भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत् ॥"

इति । अत्र एकत्र इति—

"एकत्रारोपयेत् सर्वं .... ।"

इति । चित्सामान्यस्पन्दभूः उन्मेषात्मा व्याख्यातव्या । तस्य इति अनेन—

"पुर्यष्टकेन संरुद्ध .... ।"

इति ।

जैसा कि कहा गया है—

"जब वह एक स्थान पर स्थित हो जाता है तो प्रलय तथा विकास उस के वश में हो जाते हैं । तथा नियन्त्रण के साथ वह भोक्तृत्व की स्थिति प्राप्त कर लेता है और उसके उपरान्त चक्रेश्वर हो जाता है ।" यहाँ पर "एकत्र" का अभिप्राय है—

"वह समस्त (विश्व) को एकत्र आरोपित कर लेता है ।"

इसी प्रकार "चित्सामान्यस्पन्दभूः उन्मेषात्मा" की व्याख्या करनी चाहिए ।

(उपर्युक्त कारिका में) 'तस्य' का तात्पर्य है—
"पुर्यष्टक द्वारा निरुद्ध......... ।"

उपक्रान्तं पुर्यष्टकमेव परामृष्टव्यम् । न तु यथा विवरणकृतः एकत्र सूक्ष्मे स्थूले शरीरे वा इति व्याकृतवन्तः । स्तुतं च मया—

"स्वतन्त्रश्चितिचक्राणां चक्रवर्ती महेश्वरः ।
संवित्तिदेवताचक्रजुष्टः कोऽपि जयत्यसौ ॥"

इति ।

पुर्यष्टक को प्राप्त करके उसी में परामर्श करना चाहिए । विवरण-कार ने "एकत्र" (का) 'सूक्ष्म अथवा स्थूल शरीर में' जो अर्थ किया है वैसा नहीं । मैंने भी एक स्तोत्र में कहा है—

"उस चिति के चक्रों से निर्मुक्त (स्वतन्त्र) तथा संवित्ति देवता के चक्रों से युक्त चक्रवर्ती महेश्वर की जय हो ।"

इतिशब्द उपसंहारे । यत् एतावत् उक्तप्रकरणशरीरं तत्सर्वं शिवं शिव-प्राप्तिहेतुत्वात् । शिवात् प्रसृतत्वात् शिवस्वरूपाभिन्नत्वाच्च शिवमयमेव इति शिवम् ।

(सूत्र में) "इति" शब्द का प्रयोग उपसंहार के लिए किया गया है । यह जो इतना प्रकरण उपस्थित किया गया है वह सब शिव (ही) है क्योंकि इसका लक्ष्य शिवप्राप्ति है, और इसका विकास शिव से ही हुआ है तथा यह शिव के स्वरुप से भिन्न नहीं है, (अर्थात्) शिवमय ही है इसलिए (सूत्र के अन्त में) शिव शब्द रखा है ।

"देहप्राणसुखादिभिः प्रतिकलं संरुध्यमानो जनः ।
पूर्णानन्दघनामिमां न चिनुते माहेश्वरीं स्वां चितिम् ॥
मध्येबोधसुधाब्धि विश्वमभितस्तत्फेनपिण्डोपमं ।
यः पश्येदुपदेशतस्तु कथितः साक्षात्स एकः शिवः ॥"

"देह, प्राण तथा सुखादि द्वारा सर्वतः निरुद्ध प्राणी पूर्णानन्दघन अपनी इस माहेश्वरी चिति को नहीं देख पाता; किन्तु जो उपदेश के द्वारा ज्ञान-सुधा-सिन्धु के बीच चारों ओर (फैले हुए) फेनपिण्ड की भाँति विश्व को देख पाता है वही अकेला साक्षात् शिव कहा जाता है ।"

"येषां वृत्तश्शाङ्करश्शक्तिपातो
येऽनभ्यासात् तीक्ष्णयुक्तिष्वयोग्याः ।

शक्ता ज्ञातुं नेश्वरप्रत्यभिज्ञा—
मुक्तस्तेषामेष तत्त्वोपदेशः ॥"

समाप्तमिदं प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ॥

कृतिस्तत्रभवन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तपादपद्मोपजीविनः श्रीमतो राजानकक्षेमराजाचार्यस्य ॥

शुभमस्तु

"जिनको शाङ्कर शक्तिपात हो चुका है; किन्तु जो लोग अनभ्यासवशात् तीक्ष्ण युक्तियों में अक्षम हैं (तथा इसी कारण) ईश्वर का प्रत्यभिज्ञान नहीं कर सके, उन्हीं के लिए इस (प्रत्यभिज्ञा) तत्त्व का उपदेश किया गया है ।"

यह प्रत्यभिज्ञाहृदय समाप्त होता है ।

महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमान् अभिनवगुप्तपादपद्मोपजीवी श्रीमान्-राजानक क्षेमराज की कृति ।

शुभ हो

परिशिष्ट

प्रत्यभिज्ञाहृदयसूत्रानुक्रमणी

प्रत्यभिज्ञाहृदय में उद्धृत प्रमाणवाक्यानुक्रमणी

पारिभाषिक पदानुक्रमणी

शिवसूत्राणि

संग्रन्थावली

परिशिष्ट १

प्रत्यभिज्ञाहृदयसूत्रानुक्रमणी

सूत्र	संख्या	पृष्ठ
आभासनरक्तिविमर्शनबीजावस्थापनस्तानि ।	११	१०८
चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसंकोचिनी चित्तम् ।	५	८५
चितिवह्निरवरोहपदेच्छन्नोऽपि मात्रया मेयेन्धनं प्लुष्यति ।	१४	१२२
चितिसंकोचात्मा चेतनोऽपि संकुचितविश्वमयः ।	४	८२
चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः ।	१	६८
चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः ।	१६	१२४
चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी ।	९	१०५
तत्परिज्ञाने चित्तमेवान्तर्मुखीभावेन चेतनपदाध्यारोहाच्चितिः	१३	१२१
तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति ।	१०	१०६
तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम् ।	१२	११०
तदा प्रकाशानन्दसारमहामन्त्रवीर्यात्मकपूर्णाहन्तावेशात् सदा सर्वसर्गसंहारकारिनिजसंविद्देवताचक्रेश्वरताप्राप्तिर्भवति ।	२०	१३७
तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः ।	८	९९
तन्नाना अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात् ।	३	७८
तन्मयो मायाप्रमाता ।	६	८८
बललाभे विश्वमात्मसात्करोति ।	१५	१२३
मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः ।	१७	१२६
विकल्पक्षय-शक्तिसंकोचविकासवाहच्छेदाद्यन्तकोटिनिभालनादय इहोपायाः ।	१८	१२९
स चैको द्विरूपस्त्रिमयचतुरात्मा सप्तपञ्चकस्वभावः ।	७	८९
समाधिसंस्कारवति व्युत्थाने भूयोभूयश्चिदैक्यामर्शान्नित्योदित-समाधिलाभः ।	१९	१३५
स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ।	२	७६

परिशिष्ट २

प्रत्यभिज्ञाहृदय में उद्धृत प्रमाणवाक्यानुक्रमणी

प्रमाणवाक्य		ग्रन्थ/ग्रन्थकार	पृष्ठ
अख्यातिर्यदि न ख्याति		? क्षेमराज	८४
अज्ञानाच्छङ्कते लोकः		सर्ववीरभट्टारक	११०
अत एव तु ये केचित्		तत्त्वगर्भस्तोत्र	८६
अनच्कककृतायति		ज्ञानगर्भस्तोत्र	१३३
अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः		?	१३१
इति वा यस्य संवित्तिः	(नि०२का०५)	स्पन्दकारिका	१२५
उन्मेषः स तु विज्ञेयः	(नि०३का०६)	,,	१३४
एकत्रारोपयेत्सर्वम्		?	१४२
क्रममुद्रया अन्तःस्वरूपया		क्रमसूत्र	१३६
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः	(श्लो० १०६)	विज्ञानभैरव	७४
चित्तमात्मा	(उ०२ सू०१)	शिवसूत्र	८८
चैतन्यमात्मा	(उ०१ सू०१)	,,	८८
चैतन्यविशिष्टशरीरमात्मा		चार्वाकमत	६६
जग्धिपानकृतोल्लास	(श्लो० ७२)	विज्ञानभैरव	१३४
ते आत्मोपासकाः शैवं	(अधि०८ श्लो०३)	मृत्युजित्	१०३
	(पट०४ उत्त०३८७)	स्वच्छन्दतन्त्र	
तदपोद्धृते नित्योदितस्थितिः		?	१३१
तदाक्रम्य बलं मन्त्राः	(नि०२ १का०)	स्पन्दकारिका	१२३, १४०
तदेवं व्यवहारेऽपि	(अ०१ आ०६ का०७)	प्रत्यभिज्ञाकारिका	१०६
तावदर्थावलेहेन		प्रत्यभिज्ञाटीका	१०४
न चैवं वक्तव्यम्		,,	१२३
पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः	(अ०२, वल्ली४, मं०१)	कठोपनिषद्	१३०
पुर्यष्टकेन संरुद्धः	(नि०३ का०१७)	स्पन्दकारिका	१४२
पूर्णाविच्छिन्नमात्रान्तर्		? भट्टदामोदर	११८
प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिः		अजडप्रमातृसिद्धि	१४०
प्राक्संवित्प्राणे परिणता		तत्त्वार्थचिन्तामणि	१२६
बुद्धितत्त्वे स्थिता बौद्धाः		आगम	१०२
भ्रमयत्येव तान्माया	(आ०८)	तन्त्रालोक	१०३

मनुष्यदेहमास्थाम	आगम	१२०
मन्त्रा वर्णात्मकाः सर्वे	सर्ववीरभट्टारक	११०
महाह्रदानुसन्धानान्मन्त्रवीर्यानुभवः	शिवसूत्र	१४०
मायाशक्त्या विभोः सैव (अधि०१ आ०५ का०१८)	प्रत्यभिज्ञाकारिका	१४१
यथा तथा यत्र तत्र (श्लो० ५१)	विज्ञानभैरव	१३३
यथा वह्निरुद्बोधितो	क्रमसूत्र	१२३
यदा क्षोभः प्रलीयेत (नि०१का०९)	स्पन्दकारिका	१३०
यदा त्वेकत्र संरूढः (नि०३का०१९)	,,	१४२
यस्मात्सर्वमयो जीवः (नि०३का०३)	,,	८४
या चैषा प्रतिभा तत्तत् (अधि०१,आ०७,का०१)	प्रत्यभिज्ञाकारिका	१४१
रूपादिषु परिणामात्तत्सिद्धिः	? भट्टकल्लट	१३२
वर्तन्ते जन्तवोऽशेषा (स्तो०२०, श्लो० २७)	शिवस्तोत्रावली	१२२
वह्नेर्विषस्य मध्ये तु (श्लो० ६८)	विज्ञानभैरव	१३२
विकल्पहानेनैकाग्र्यात् (अधि०४, आ०१, का०११)	प्रत्यभिज्ञाकारिका	१२९
विग्रहो विग्रही चैव	सिद्धान्तवचन ?	८२
विहाय सकलाः क्रियाः	ज्ञानगर्भस्तोत्र	१३०
वैष्णवाद्यास्तु ये केचित्	?	१०३
शरीरमेव घटाद्यपि वा	प्रत्यभिज्ञाटीका	१२०
शरीरी परमेश्वरः	?	१२०
समाधिवज्रेणाप्यन्यैः	श्रीराम ?	१०८
सर्वदेवमयः कायः	त्रिशिरोमत	८२
सर्वा शक्तीश्चेतसा दर्शनाद्याः	कक्ष्यास्तोत्र	१३१
सर्वो ममायं विभवः (अधि०४,आ०१,का०१२)	प्रत्यभिज्ञाकारिका	११६
सृष्टिसंहारकर्तारं (पट०१, श्लो०३)	स्वच्छन्दतन्त्र	१०६
स्वतन्त्रश्चितिचक्राणां	? क्षेमराज	१४३
स्वपदा स्वशिरश्छायां	त्रिकसार	७३
स्वाङ्गरूपेषु भावेषु (अधि०४, आ०१, का०४)	प्रत्यभिज्ञाकारिका	८६
हृद्याकाशे निलीनाक्षः (श्लो०४९)	विज्ञानभैरव	१३३

परिशिष्ट ३

परिभाषिक पदानुक्रमणी

पद	अर्थ	पृष्ठ
अख्यातिः	संकोच	८४, ९३
अणुः	सकलप्रमाता	१०५
अधःकुण्डलिनी	श्वासक्रिया में सुषुम्ना से नीचे की निचली अवस्था	१३२
अनन्तभट्टारकः	विद्या तत्त्व में स्थित मन्त्र प्रमाताओं के अधिष्ठाता	७९
अनाश्रितशिवः	शून्यातिशून्यात्मा	१०६
अनुग्रहः	शिव का पांचवाँ कृत्य	१३९
अनुत्तरः	वह पारमार्थिक भूमि जिससे परे कुछ भी नहीं, तत्त्वातीत अवस्था	७०
अन्तकोटिः	द्वादशान्त	१२९, १३३
अलंग्रासयुक्तिः	प्रशम विशेष	१०८
अवरोहपदम्	मायाप्रमातृभाव	१२२
आणवमलम्	अपूर्णमन्यता	८९
आदिकोटिः	हृदय	१३३
ईश्वरतत्त्वम्	स्फुट इदन्ता तथा अहन्ता के सामानाधिकरण्य से उसी प्रकार की विश्व की अवभासनमयी व्यवस्था	७९, १०१
ईश्वरभट्टारकः	ईश्वरतत्त्व में स्थित मन्त्रेश्वरों के अधिष्ठाता	७९
उन्मीलनम्	पहले से ही विद्यमान का प्रकटीकरण	७६, १४१
उन्मेषः	स्फुरण	१३४, १४२
ऊर्ध्वकुण्डलिनी	श्वासक्रिया में सुषुम्ना से नीचे की ऊपरी अवस्था	१३२
करणेश्वर्यः	खेचरी-गोचरी-दिक्चरी भूचरी चक्र	१२३
कला	संकुचित कर्तृत्वशक्ति	९३, १०५, ११६
कार्ममलम्	शुभाशुभानुष्ठान	८९, १०५
कालः	संकुचित नित्यताशक्ति	९३, १०५
कालाग्निः	निवृत्तिकला में कालाग्निभुवनेश नाम के रुद्रविशेष	१३७

क्रममुद्रा	तुरीया चितिशक्ति	१३६
खेचरीचक्रम्	कलादि शक्तिचक्र अथवा प्रमाता की भूमिका के आश्रित योगिनीगरण	११६
गोचरीचक्रम्	भेदनिश्चयाभिमान विकल्पप्रधान अन्तःकरण देवी-समूह	११६, ११८
ग्राहकः	विकल्पमय जीव	११, ८५, ११०, १२०
ग्राह्यम्	विश्व	७९
चित्तम्	संकोच के प्रकर्ष से चितिशक्ति का सत्त्वादिस्वभाव से स्फुरण का स्वरूप, अथवा मायीय प्रमाता का स्वरूप	८५, ८८
चितिः	चेतनशक्ति	६८, ७१, ७५, ८६, ११६, १२१, १२२, १२३, १३६, १४१, १४३
चेतनः	विश्वात्मा	८२
दिक्चरीचक्रम्	भेदालोचनादि प्रधानबहिष्करणदेवताचक्र	११८
निभालन	चिन्तन	१२९
नियतिः	संकुचितव्यापकत्वशक्ति अथवा कर्त्तव्य का नियमन करने वाला तत्त्व विशेष	९३, १०५
पञ्चकृत्यानि	सृष्टि, स्थिति, संहृति, विलय तथा संहार अथवा आभासन, रक्ति, विमर्शन, बीजावस्थापन तथा विलापन	१०६, १०८, १०९, ११०, १२९
पतिदशा	परप्रमाता की स्थिति, शुद्धाध्व प्रमाता की स्थिति अथवा मुक्ति	११५
परमशिवः	विश्वोत्तीर्ण विश्वात्मक परमानन्दमय प्रकाशैकघनस्वभाव	८२
परावाक्	अनन्यापेक्षाहंपरामर्शमयी पराशक्ति, अथवा परमानन्दात्मक स्वातन्त्र्यशक्ति	११०
पराशक्तिः	स्वातन्त्र्यशक्ति	६८
पशुः	अज्ञानी, अविद्या, अस्मिता आदि बन्धों से युक्त जीव	८६, १२७

पश्यन्ती	वाणीविशेष	१०१, ११०
पुर्यष्टकम्	पञ्च तन्मात्राओं एवं मन, अहंकार तथा बुद्धि के समूह से बना सूक्ष्म शरीर	११६, १४२, १४३
प्रकाश	चेतनशक्ति	७६, ८६
प्रकृति	कला का प्रथम स्फुट वेद्यमात्र विषय	७०
प्रलयकेवलिनः	अथवा प्रलयाकलाः, मायातत्त्व में स्थित शून्यप्रमाता	७६
बन्धः	शिव तत्त्व का अज्ञान	८४
बैन्दवी कला	स्वातन्त्र्यशक्ति	७३
ब्रह्मनाडी	सुषुम्ना नामकी मध्यनाडी	१२८
ब्राह्मी	पराशक्ति के ऊपर आश्रित एक शक्ति	११५
भूचरीचक्रम्	पूर्णरूपेण परिमित आभास से युक्त प्रमेय-चक्र	११८
भूमिका	चिदानन्दघनस्वात्मस्वरूप शिवकी अभि-व्यक्ति का उपाय	६६, १०४
मध्यम्	संवित्	१२६, १३५
मध्यधाम	ब्रह्मनाडी	१२०
मध्यमा	वाणी विशेष	११०
मध्यशक्तिः	संवित् शक्ति	१२६
मन्त्राः	विद्यातत्त्व में स्थित प्रमाता	७६, ११०, १४०
मन्त्रेश्वराः	प्रमातावर्ग विशेष	७६
मन्त्रमहेश्वराः	प्रमातावर्ग	७८
माया	दुर्घट कार्य का भी संपादन करने वाली शक्तिविशेष	७०, ७६, ८६, १०२, १२२, १२६, १४१
माया प्रमाता	जीव, अथवा सकल नाम का प्रमाता	८८, ११४, १४१
मायीयमलम्	भिन्नवेद्यप्रथा अथवा माया से लेकर विद्या तक कञ्चुकपञ्चक	८६
मुक्तिः (अथवा जीवन्मुक्तिः)	शिव भट्टारक आत्मतत्त्व का परिज्ञान, अज्ञान को दूर करके अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति, अथवा विश्वोत्तीर्ण परम	

	शिव से तादात्म्य	८४, ८८, ९३, १२६
रागः	छत्तीस तत्त्वों में से एक तत्त्व, अथवा संकुचितपूर्णत्वशक्ति	९३, १०५
वह्निः	षष्ठवक्त्रात्मशक्ति का उदगमस्थान संकोच का कारण	१३२
वामेश्वरी	विश्व का वमन करने वाली शक्ति	११६, ११८
वाहच्छेदः	वाम और दक्षिणगत प्राण तथा अपान वायु का हृदयविश्रान्ति पुरःसर अन्त ककार हकारादि से युक्त अनच्क वर्णों के उच्चारण द्वारा विच्छेद	१२९
विकल्पः	जीव की भेदमूलक संकुचित भावना	८६, ११४, ११५, ११६, ११८, १२९
विज्ञानाकलाः	माया तत्त्व से ऊपर तथा शुद्ध विद्या तत्त्व से नीचे कल्पित अवस्थान कर्तृत्व शक्ति से रहित शुद्धबोधात्मा प्रमातृवर्ग	७९, ८५, १०१
विग्रहः	शरीर	८२
विग्रही	आत्मा	८२
विद्या	संकुचित सर्वज्ञत्वशक्ति	९३, १०५
विमर्शः	स्वातन्त्र्यशक्ति	६८, ११०, १३९
विश्वम्	सदाशिव से लेकर धरणीपर्यंत तत्त्वों का समूह अथवा प्रमातृप्रमाणप्रमेयरूप, अथवा नीलसुखदेहप्राणादि	६८, ७४, ७५, ७६, ७८, ७९, १२३
विश्वोत्तीर्णम्	विश्व से परे	१०२
विश्वमयम्	विश्व से पूर्ण	१०२
विश्वसिद्धयः	भोगमोक्षस्वरूपा	६८, ७४
विषस्थानम्	प्रसर की युक्ति से विकासपद	१३२
व्युत्थानम्	समाधि का विपर्यय	१२५, १३५
शक्तिपातः	अनुग्रहशक्ति का स्फुरण	६६, ११०, १४३
शक्तिविकासः	भीतर छिपी हुई शक्ति का बिना किसी क्रम के सभी चक्रों तथा करणों के विस्फारण द्वारा भैरवीय मुद्रा में प्रवेश की युक्ति से बाह्यप्रसार	१३१

शक्तिसंकोचः	इन्द्रिय द्वार से प्रसरित होनेवाली शक्ति का आकुञ्चन क्रम से उन्मुखीकरण	१३०
शिवः	परम प्रमाता, प्रथम तत्त्व	७३, ८४, ९३, १०६ १२०, १३७, १४०, १४३
शिवभट्टारकः	शिवका आदरसूचक अभिधान	७९, ८४, ८९, १२०
शुद्धाध्वा	शिव से लेकर विद्या तक के तत्त्व	८५
शुद्धेतराध्वा	अशुद्धाध्वा, क्षिति से लेकर माया तक के तत्त्व	१०६
शून्यप्रमातारः	कला तत्त्व से उपलक्षित तथा करणशक्ति से रहित अबोधरूप कर्तागण प्रलयाकल	७९, ८५
शून्यभूमिः	प्रलयाकलावस्था	८८
षट्त्रिंशत्तत्त्वानि	शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्ध विद्या, माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, आकाश, वायु, वह्नि, सलिल तथा धरणी	१२०
संवित्तिदेवताचक्रम्	खेचरी आदि देवीचक्र अथवा अन्तर्बहिष्करण मरीचिपुञ्ज	१४२, १४३
संविद्भट्टारिका	चिति, आदर सूचक अभिधान	१०४
सकलाः	माया तत्त्व के अन्तराल में रहने वाले मलत्रय से युक्त कार्ममल के प्राधान्य के कारण संसारी और कार्यकारण से संबद्ध जीव	७९, ९३
सदाशिवतत्त्वम्	तीसरा तत्त्व, अहन्ता से आच्छादित, स्फुट इदन्ता के अवभासन से युक्त अवस्थाविशेष	७८
सदाशिवभट्टारकः	सदाशिवतत्त्व में स्थित अधिष्ठातृ देव	७८
समावेश	पारमेश्वर्य भूमि, तुर्यातीत अवस्था	६६, १२९, १३५ १३६

सिद्धिः	सृष्ट्यात्मक निष्पत्ति, प्रकाशात्मक स्थिति, परप्रमातृविश्रान्त्यात्मक संहार	६८,७३
स्थितिः	भावाभिष्वङ्ग, सिद्धांत अथवा अन्तर्मुख-रूपा विश्रान्ति	९९, २०४,
स्वातन्त्र्यम्	क्रियाशक्ति	८६, ८९, १०३, १०५, १२१, १२३, १३८ १४०
हठपाकक्रमः	प्रशम विशेष	१०८

अथ शिवसूत्राणि

शाम्भवोपाये

१. चैतन्यमात्मा ।
२. ज्ञानं बन्धः ।
३. योनिवर्गः कलाशरीरम् ।
४. ज्ञानाधिष्ठानं मातृका ।
५. उद्यमो भैरवः ।
६. शक्तिचक्रसंधाने विश्वसंहारः ।
७ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तभेदे तुर्याभोगसम्भवः ।
८. ज्ञानं जाग्रत् ।
९. स्वप्नो विकल्पाः ।
१०. अविवेको मायासौषुप्तम् ।
११, त्रितयभोक्ता वीरेशः ।
१२. विस्मयो योगभूमिकाः ।
१३. इच्छाशक्तिरुमाकुमारी ।
१४ दृश्यं शरीरम् ।
१५. हृदये चित्तसंघट्टात् दृश्यस्वापदर्शनम् ।
१६. शुद्धतत्त्वसन्धानाद्वापशुशक्तिः ।
१७. वितर्क आत्मज्ञानम् ।
१८. लोकानन्दः समाधिसुखम् ।
१९. शक्तिसन्धाने शरीरोत्पत्तिः ।
२०. भूतसन्धान–भूतपृथक्त्व–विश्वसंघट्टाः ।
२१. शुद्धविद्योदयाच्चक्रेशत्वसिद्धिः ।
२२. महाह्रदानुसन्धानान्मन्त्रवीर्यानुभवः ।

शाक्तोपाये

१. चित्तं मन्त्रः ।
२. प्रयत्नः साधकः ।
३. विद्याशरीरसत्ता मन्त्ररहस्यम् ।
४. गर्भे चित्तविकासोऽविशिष्टविद्यास्वप्नः ।
५. विद्यासमुत्थाने स्वाभाविके खेचरी शिवावस्था ।

६. गुरुरुपायः ।
७. मातृकाचक्रसम्बोधः ।
८. शरीरं हविः ।
९. ज्ञानमन्नम् ।
१०. विद्यासंहारे तदुत्थस्वप्नदर्शनम् ।

आणवोपाये

१. आत्मा चित्तम् ।
२. ज्ञानं बन्धः ।
३. कलादीनां तत्त्वानामविवेको माया ।
४. शरीरे संहारः कलानाम् ।
५. नाडीसंहारभूतजयभूतकैवल्यभूतपृथक्त्वानि ।
६. मोहावरणात् सिद्धिः ।
७. मोहजयादनन्ताभोगात् सहजविद्याजयः ।
८. जाग्रद्द्वितीयकरः ।
९. नर्तक आत्मा ।
१०. रङ्गोऽन्तरात्मा ।
११. प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि ।
१२. धीवशात् सत्त्वसिद्धिः ।
१३. सिद्धः स्वतन्त्रभावः ।
१४. यथा तत्र तथान्यत्र ।
१५. बीजावधानम्
१६. आसनस्थः सुखं ह्रदे निमज्जति ।
१७. स्वमात्रानिर्माणापादयति ।
१८. विद्याऽविनाशे जन्मविनाशः ।
१९. कवर्गादिषु माहेश्वर्याद्याः पशुमातरः ।
२०. त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम् ।
२१. मग्नः स्वचित्तेन प्रविशेत् ।
२२. प्राणसमाचारे समदर्शनम् ।
२३. मध्येऽवरप्रसवः ।
२४. मात्रास्वप्रत्ययसंधाने नष्टस्य पुनरुत्थानम् ।
२५. शिवतुल्यो जायते ।

२६. शरीरवृत्तिर्व्रतम् ।
२७. कथा जपः ।
२८. दानमात्मज्ञानम् ।
२९. योऽविपस्थो ज्ञाहेतुश्च ।
३०. स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम् ।
३१. स्थितिलयौ ।
३२. तत्प्रवृत्तावप्यनिरासः संवेत्तृभावात् ।
३३. सुखदुःखयोर्बहिर्मननम् ।
३४. तद्विमुक्तस्तु केवली ।
३५. मोहप्रतिसंहतस्तु कर्मात्मा ।
३६. भेदतिरस्कारे सर्गान्तरकर्मत्वम् ।
३७. करणशक्तिः स्वतोऽनुभवात् ।
३८. त्रिपदाद्यनुप्राणनम् ।
३९. चित्तस्थितिवच्छरीरकरणबाह्येषु ।
४०. अभिलाषाद्बहिर्गतिः संवाह्यस्य ।
४१. तदारूढप्रमितेस्तत्क्षयाज्जीवसंक्षयः ।
४२. भूतकञ्चुकी तदा विमुक्तो भूयः पतिसमः परः ।
४३. नैसर्गिकः प्राणसम्बन्धः ।
४४. नासिकान्तर्मध्यसंयमात् किमत्र सव्यापसव्यसौषुम्नेषु ।
४५. भूयः स्यात् प्रतिमीलनम् ।

समाप्तानि शिवसूत्राणि

परिशिष्ट ५

संग्रंथावली

१. अप्पय दीक्षित	सिद्धान्तलेशसंग्रह	चौखंभा, वाराणसी
२. अभिनवगुप्त	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (१-३) प्रो० कु० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर एवं डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय द्वारा प्रत्यभिज्ञाकारिकाओं तथा भास्करी सहित संपादित तथा अंग्रेजी में अनूदित	इलाहाबाद
३. ,,	तन्त्रालोक (१-१२)	काश्मीर ग्रन्थावली
४. ,,	तन्त्रसार	,,
५. ,,	परमार्थसार	,,
६. ,,	परात्रिंशिकाविवरण	,,
७. ,,	महार्थमञ्जरी (महेश्वरानन्द की परिमल व्याख्या सहित)	,,
८. ,,	मालिनीविजयवार्तिक	,,
९. आनन्दवर्धन	ध्वन्यालोक (लोचनसहित)	चौखम्भा, वाराणसी
१०. आनन्द झा	पदार्थशास्त्र	वाराणसी
११. उत्पल	स्पन्दकारिका	काश्मीरग्रंथावली
१२. गौतम	न्यायसूत्र (वात्सायनभाष्य सहित)	हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी
१३. चन्द्रधरशर्मा	बौद्धदर्शन और वेदान्त	स्टूडेन्ट्स फ्रेन्ड्स इलाहाबाद
१४. जयदेवसिंह	प्रत्यभिज्ञाहृदय (अंग्रेजी अनुवाद)	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली
१५. पतञ्जलि	योगसूत्र (भोजवृत्तिसहित)	कलकत्ता
१६. बलदेव उपाध्याय	भारतीय दर्शन	शारदामन्दिर, वाराणसी
१७. भास्कर	शिवसूत्रवार्तिक	काश्मीर ग्रन्थावली
१८. माधवाचार्य	सर्वदर्शनसंग्रह	पूना
१९. लेडेकर	प्रत्यभिज्ञाहृदय (अंग्रेजी अनुवाद)	अडयार लाइब्रेरी

२०. लौगाक्षि-भास्कर	अर्थसंग्रह (कौमुदी व्याख्या सहित)	निर्णयसागर प्रेस
२१. विश्वनाथ, पंचानन	न्यायसिद्धान्तमुक्तावली	,, ,,
२२. शंकर	ब्रह्मसूत्रभाष्य	,, ,,
२३. सोमानन्द	शिवदृष्टि	काश्मीर ग्रन्थावली
२४. स्वात्माराम योगीन्द्र	हठयोगप्रदीपिका	क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई
२५.	घेरण्ड संहिता	सेक्रेड बुक ऑफ हिन्दूज, प्रयाग
२६.	विज्ञानभैरव	काश्मीर ग्रन्थावली
२७. क्षेमराज	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्	,, ,,
२८. ,,	शिवसूत्रविमर्शिनी	,, ,,
२९. ,,	षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोहः	,, ,,
30. Chaterjee, J. C.	Kashmir Shaivism	Kashmir Series
31. Dasgupta, S. N.	History of Indian Philosophy Vol. V	Cambridge
32. De, S. K.	History of Sanskrit literature	University of caulcutta
33. Pandey, K. C.	Abhinava Gupta. An Historical and Philosophical study	Chaukhambha Sanskrit series
34. ,, ,,	Comparative Aesthetics Vol I, 2nd Edition	,,
35. Radha-krishnan	History of Philosophy Eastern & Western	George & Allen Unwin ltd. London
36. ,,	History of Indian Philosophy Vol-I, II	,,